तुलसी

लेखक

डा० माताप्रसाद गुप्त, एम्० ए०, डी० लिट्०

अध्यापक, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रस्तावना

'तुलसीदास' नामक मेरी डी० लिट्० का निबंध सात वर्ष पूर्व १६४२ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद इधर जो तुलसीदास का मेरा अध्ययन हुआ, और विश्वविद्यालय में उनके अध्यापन का जो अनुभव हुआ वह अप्रकाशित था। बहुत दिनों से मेरा विचार इस नवीन अध्ययन और अनुभव को भी मूर्त रूप देने का था। वह इस प्रयास द्वारा सामने रक्खा जा रहा है।

यह पुस्तिका एक नए दृष्टिकोण से प्रस्तुत की गई है—इसका लक्ष्य यह है कि एक छोटे आकार में ही तुलसीदास के व्यक्तित्व को और भारतीय साहित्य में उनके योग को स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया जावे। उसी की पूर्ति इस प्रयास द्वारा की गई है। तुलसीदास अपनी जिन विशेषताओं से महान् हैं, मुख्यतः उन्हीं को सामने रखते हुए पुस्तक लिखी गई है। साथ ही, उनके व्यक्तित्व का विकास उनकी साहित्यिक और आध्यात्मिक साधना में किस प्रकार हुआ है, यह भी स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। आशा है कि यह प्रयास तुलसीदास को उनके वास्तविक रूप में समझने में सहायक सिद्ध होगा।

आज़ाद प्रेस के अध्यक्ष का मैं आभारी हूँ, जिन्होंने बहुत थोड़े समय में यह पुस्तक छाप कर दी है।

प्रयाग,
कार्त्तिक शु० ४, सं० २००६

माताप्रसाद गुप्त

और तुलसी-प्रेमियों ने बेनीमाधवदास लिखित 'गोसाईं चरित्र' की बहुत खोज की, किंतु अभी तक इस विषय में वे असफल ही रहे हैं।

भवानीदास लिखित 'गोसाईं चरित'

'गोसाईं चरित' नाम की एक अन्य कृति अवश्य प्राप्त है, और यह नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से रामचरणदास की 'राम चरित मानस' की टीका के साथ प्रकाशित भी है। किंतु विद्वानों का यथेष्ट ध्यान अभी तक इस चरित्र की ओर नहीं गया है।

यह चरित्र भी पद्यबद्ध है, और विस्तृत है—इसका आकार 'राम चरित मानस' के अयोध्या कांड के लगभग होगा; और सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि इसमें वे दोनो पंक्तियाँ भी मिल जाती हैं जिनको शिवसिंह सेंगर ने बेनीमाधवदास की रचना के उदाहरण में उद्धृत किया है। किंतु इस रचना में लेखक ने अपना नाम भवानी-दास दिया है, और रचना के प्रारंभ में ही उसने अपना और अपनी गुरु-परंपरा का जो परिचय दिया है, उससे ज्ञात होता है कि वह सं० १८१० के लगभग उपस्थित रहा होगा, और तभी उसने यह रचना की होगी।

ऐसी अवस्था में स्वभावतः यह शंका उठती है कि इन दो भिन्न लेखकों की रचनाओं में एक ही पंक्तियाँ कैसे आ गईं? हो न हो, इन्हें किसी एक ने दूसरे से लिया होगा। यदि बेनीमाधवदास के विषय में शिवसिंह सेंगर द्वारा दी हुई तिथियों को मान लिया जावे तो बेनी-माधवदास पहले के और भवानीदास बाद के होते हैं, और हो सकता है कि भवानीदास ने बेनीमाधवदास से इस प्रकार की पंक्तियाँ ली हों। किंतु, शिवसिंह सेंगर तो भवानीदास के बाद के हैं, और यह सर्वथा असंभव नहीं कि किसी ने भवानीदास की रचना से इस प्रकार की सहायता लेकर बेनीमाधवदास के नाम से उन्हें गोस्वामी जी का

शिष्य बताते हुए उपर्युक्त रचना प्रस्तुत कर दी हो, और शिवसिंह सेंगर ने इसी की कोई प्रति देखी हो। यदि बेनीमाधवदास रचित कहा गया वह 'गोसाईं चरित्र' भी प्राप्त होता, तो भवानीदास की रचना के साथ उसकी तुलना करके संभवतः कुछ और निश्चयात्मक निष्कर्ष निकाला जा सकता। अभाव में हम भवानीदास की ही कृति को देख सकते हैं। उसमें हम देखते हैं कि ये पंक्तियाँ एक प्रसंग की हैं, और इन्हीं की शैली में समूचे 'चरित' की पंक्तियाँ लिखी गई हैं, और ऐसा ज्ञात होता है कि ये पंक्तियाँ भी उसी लेखक की हैं जिसका लिखा हुआ समूचा शेष चरित्र है।

पर इस चरित्र को पढ़कर इस युग के पाठक को निराशा ही होगी—सारा चरित्र कुछ प्रसंगों में विभाजित है, जिनमें आदि से अंत तक मुर्दे को जिलाना, स्त्री का पुरुष बना देना, पत्थर के नंदी को घास खिला देना जैसे चमत्कार मात्र वर्णित हैं; कहीं पर किसी घटना के लिए न कोई तिथि दी हुई है, और न प्रसंगों को किसी क्रम में रक्खा गया है। गोस्वामी जी के जीवन की जितनी भी उलझी हुई समस्याएँ हैं, उनमें से किसी पर इस चरित्र से कोई प्रकाश नहीं पड़ता है।

मेरा अनुमान है कि जिस 'गोसाईं चरित्र' का उल्लेख शिवसिंह सेंगर ने किया है, इन बातों में वह भी ऐसा ही रहा होगा; क्योंकि गोस्वामी जी की जन्म-तिथि के विषय में लिखते हुए सेंगर जी ने लिखा है "यह महात्मा सं० १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे।" यदि उस चरित्र में जन्म-तिथि दी होती, तो इस प्रकार के अनुमान की कोई आवश्यकता सेंगर जी को न पड़ती। इसलिए हो सकता है कि बेनीमाधवदास के उक्त 'गोसाईं चरित्र' के प्राप्त होने पर उससे भी उसी प्रकार की निराशा आधुनिक पाठक को हो जिस प्रकार की निराशा इस 'गोसाईं चरित' से होती है।

के जीवनवृत्त और उनकी रचनाओं के विषय में ग्रंथ तक तो प्रकाशित हुए ही, हिंदी साहित्य के इतिहासों का भी संशोधन हुआ। किंतु इस विषय में हमारे विद्वानों ने भूल की। उनको सब से पहले यह देखना चाहिए था कि हमारी समस्याओं के जो हल उसमें दिए गए हैं वे प्रामाणिक भी हैं या नहीं, और इस दृष्टि से देखने पर यह रचना एक धोखे की टट्टी के अतिरिक्त और कुछ नहीं सिद्ध होती है। नीचे 'मूल गोसाईं चरित' के केवल कुछ प्रसंग इसी दृष्टि से दिए जाते हैं :

(१) चरित-लेखक ने लिखा है कि सं० १६१६ के प्रारंभ में गोस्वामी जी के दर्शनों के लिये सूरदास जी चित्रकूट आए; जब वे ब्रज से चलने लगे थे, गोकुलनाथ जी ने उन्हें कृष्ण के रंग में डुबो कर भेजा था—कदाचित् इसलिए कि सूरदास पर तुलसी के राम का रंग न चढ़ने पावे; और जब वे वापस जाने लगे तब गोस्वामी जी ने गोकुलनाथ जी के नाम एक पत्र लिख कर उन्हें दिया (मू० गो० च० दोहा २६-३१)। पुष्टिमार्गीय परंपराओं के अनुसार सूरदास जी का जन्म सं० १५३५ में हुआ था, और उन्हीं परंपराओं के अनुसार गोकुलनाथ जी का जन्म सं० १६०८ में हुआ था। इन तिथियों के विरोध में काई तथ्य अभी तक नहीं प्राप्त हुए हैं, इसलिए इन्हें प्रायः ठीक माना जा सकता है। सं० १६१६ में सूरदास की अवस्था ८१ वर्ष की और गोकुलनाथ जी की ८ वर्ष की होती है। ८ वर्ष का बालक ८१ वर्ष के महात्मा को—जिसने आजीवन कृष्णभक्ति तथा कृष्णलीला का गान किया हो—कृष्णभक्ति के रंग में डुबो कर कहीं भेजे यह बात बुद्धि में नहीं आती है। उस ८१ वर्ष के महात्मा के हाथ में उक्त ८ वर्ष के बालक के लिए उसे कोई समझदार व्यक्ति पत्र लिख कर दे, यह बात भी मन में किसी प्रकार नहीं जमती।

(२) चरित-लेखक ने लिखा है कि 'राम चरित मानस' के समाप्त होने पर सं० १६३३ से लेकर सं० १६३६ तक—तीन वर्षों तक लगा-

तार—प्रसिद्ध मुसलमान कवि रसखानि ने 'मानस' की कथा सुनी (मू० गो० च० दोहा ४७)। रसखानि के जीवन की निश्चित रूप से ज्ञात एक मात्र तिथि सं०१६७१ है, जिसमें उन्होंने 'प्रेम बाटिका' की रचना की। रामकथा पर ऐसा दृढ़ अनुराग कि तीन वर्षों तक लगातार वे राम कथा सुनते रहे हों, यदि 'बादशाह-वंश' के रसखानि में ३० वर्ष की अवस्था में भी माना जावे, तो उनका जन्म सं० १६०३ के लगभग मानना पड़ेगा, और उनकी 'प्रेम बाटिका' ६८ वर्ष की अवस्था की रचना होगी। 'प्रेम बाटिका' की सरसता को देखते हुए इस बात पर विश्वास नहीं होता कि वह ६८ वर्ष के वृद्ध की रचना होगी। रसखानि कभी भी ऐसे दृढ़ रामभक्त रहे होंगे, इस बात के भी मानने में आपत्ति हो सकती है, क्योंकि उनकी कोई रचना रामभक्ति संबधिनी नहीं प्राप्त हुई है।

(३) सं० १६४३-४४ की घटनाओं का उल्लेख करते हुए चरित-लेखक ने लिखा है कि केशवदास जी गोस्वामी जी के दर्शनार्थ काशी आए; उन्होंने अपने आगमन की सूचना भेजी; गोस्वामी जी उनको लेने के लिए बाहर न निकले, और सूचना देने वाले से उन्होंने इतना ही कहा कि "कवि प्राकृत केशव आवन दो"। इस प्रकार के स्वागत से अपनी मानहानि समझ कर केशवदास उलटे पाँव लौट गए, और रातो रात अपने प्रसिद्ध रामकाव्य 'रामचंद्रिका' की रचना करके वे पुनः दूसरे दिन गोस्वामीजी के स्थान पर उपस्थित हुए (मू० गो० च० दोहा ५८)। केशवदास जी ने 'राम चंद्रिका' में स्पष्ट रूप से उसकी रचना-तिथि सं० १६५८ दी है। विरोध प्रत्यक्ष है।

(४) पुनः सं० १६५१ की घटनाओं का विवरण देते हुए चरित-लेखक ने लिखा है कि केशवदास उस समय प्रेतयोनि में थे, और गोस्वामी जी ने इस योनि से उनका उद्धार किया (मू० गो० च० दोहा ७८)। इससे प्रकट है कि चरित-लेखक के अनुसार केशवदास जी का

देहावसान सं० १६५१ के पूर्व हो चुका था। केशवदास जी ने अपनी प्रायः समस्त रचनाओं में रचना-तिथियाँ दी हैं, और उनके अनुसार उनकी अधिकतर रचनाएँ सं० १६५१ के बाद की होती हैं—सं० १६-५८ में उन्होंने 'राम चंद्रिका' तथा 'कविप्रिया' को समाप्त किया था, 'वीर सिंह देव चरित' की रचना उन्होंने सं० १६६४ में, 'विज्ञान गीता' की सं० १६६७ में, और 'जहाँगीर जस चंद्रिका' की सं० १६६९ में की थी। यहाँ पर भी विरोध प्रकट है।

(५) सं० १६५१ की घटनाओं का विवरण देते हुए चरित-लेखक ने लिखा है कि अयोध्या आकर भक्त हरिदास ने गोस्वामी जी से अपने गीतों का संशोधन कराया। भक्त हरिदास अकबर के गायक तानसेन के गुरु थे, और एक कृष्णभक्ति संप्रदाय के संस्थापक थे। उनका सम्मान इतना बढ़ा हुआ था कि कहा जाता है स्वतः अकबर ने वेष बदलकर उनके दर्शन किए थे। नाभादास जी ने लिखा है कि उनके दर्शनों के लिए राजा लोग उनके दरवाजे पर खड़े रहा करते थे (भक्त-माल, छप्पय ९१)। यद्यपि उनकी जन्मतिथि ज्ञात नहीं है, उनकी रच-नाएँ सं० १६०७ और १६१७ की प्राप्त हुई हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि अवस्था में वे गोस्वामी से प्रायः २५ वर्ष जेष्ठ रहे होंगे। गो-स्वामी जी की अवस्था चरित-लेखक के अनुसार इस समय ९७ वर्ष की थी—गोस्वामी जी की जन्मतिथि उसने सं० १५५४ बताई है। इसके अनुसार हरिदास जी सं० १६५१ में लगभग १२२ वर्षों के रहे होंगे। यदि १२२ वर्ष के स्थान पर उस समय हरिदास जी की अवस्था हम ८५-९० वर्ष की मान लें, तो भी यह किस प्रकार माना जा सकता है कि जिस महात्मा ने आजीवन कृष्णभक्ति की हो, और जिसकी ख्याति उपर्युक्त प्रकार की हो, और जिसने स्वतः एक कृष्णभक्ति संप्रदाय की स्थापना की हो, वह ८५-९० वर्ष की अवस्था में व्रज से अयोध्या आकर किसी रामभक्त महात्मा से अपने गीतों का संशोधन करावे ?

(६) चरित-लेखक ने सं० १६६६ की घटनाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि गंग की इसी वर्ष मृत्यु हुई (मू० गो० च० दोहा ६२)। गंग की निश्चित तिथियाँ ज्ञात नहीं हैं, किंतु उनके छोटे भाई श्रीपति द्वारा किया हुआ 'महा भारत' के कर्ण पर्व का एक अनुवाद खोज में प्राप्त हुआ है, जिसमें उसकी रचना-तिथि सं० १७१६ दी हुई है। छोटा भाई किसी समय पुस्तक-रचना कर रहा हो, और बड़ा भाई कवि के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त करने के अनंतर भी छोटे भाई से ५० वर्ष पूर्व चल बसा हो, यह बात भी बुद्धि में बैठती नहीं है। छोटे भाई और बड़े भाई की अवस्थाओं में अधिक से अधिक २५ वर्षों का अंतर हो सकता है, ५० वर्षों का कदापि नहीं।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'मूल गोसाईं चरित' की तिथियाँ, और अन्य विवरण भी, वास्तविकता और सत्य से बहुत दूर हैं। अतः इस युग के पाठक को गोस्वामी जी के इस चरित्र से भी उतनी ही निराशा—बल्कि भ्रामक तिथियों आदि के कारण उससे भी अधिक निराशा—हो सकती है जितनी भवानीदास के 'गोसाईं चरित्र' से होती है।

ज्योतिष के सिद्धान्तों के अनुसार गणना करने पर 'मूल गोसाईं चरित' की कुछ तिथियाँ शुद्ध आती हैं—सब वह भी नहीं—इस कारण भी कुछ विद्वानों की आस्था इस रचना पर हुई थी। किंतु गणना के अनुसार शुद्ध तिथियाँ अनेक प्रकार से दी जा सकती हैं। केवल गणना की शुद्धता से उनकी प्रमाणिकता नहीं सिद्ध होती, और न उस रचना की प्रमाणिकता सिद्ध होती है जिसमें वे तिथियाँ आती हैं।

रघुबरदास लिखित 'तुलसी चरित'

ज्येष्ठ सं० १६६६ की 'मर्यादा' पत्रिका में किन्हीं रघुबरदास लिखित 'तुलसी चरित' के प्राप्त होने की सूचना प्रकाशित हुई है। इस

चरित का आकार उसमें १३४६६२ छंदों का बताया गया है, और उसके प्रारंभ के कुछ अंश भी उद्धृत किये गए हैं। पूरा चरित्र अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है, किंतु जितना प्रकाशित हुआ है, उनता ही उसके महत्व का अनुभव करने के लिए पर्याप्त है। शेष की आवश्यकता इस युग के पाठक को नहीं पड़ेगी, इसका विश्वास सरलता से उक्त प्रकाशित अंश को देखकर किया जा सकता है।

वर्णित घटनाओं में से केवल दो-एक को उदाहरण के लिए लेना यथेष्ट होगा। उसमें कहा गया है कि गोस्वामी जी के पूर्वज धनाढ्य मारवाड़ी व्यापारियों के गुरु थे, और उनसे उन्हें प्रचुर धन मिला करता था। गोस्वामी जी ने —जैसा हम आगे देखेंगे—स्वतः लिखा है कि उनका जन्म एक 'मंगन'कुल में हुआ था। फिर चरित-लेखक ने लिखा है कि गोस्वामी जी के पिता ने गोस्वामी जी के तीन विवाह एक के बाद एक किए, और अंतिम में उन्हें ६०००) दायज में मिले। उस युग की बात सोचिए, जब रुपये का मूल्य आज का २०-२५ गुना था। आज की मुद्रा में इन ६०००) का मूल्य सवा लाख रुपयों से कम नहीं होना चाहिये। इतने ही रुपये होने पर किसी को भी खाने-पीने का कष्ट नहीं होना चाहिए, यद्यपि जब दायज में एक बार इतने रुपये मिले थे, तो अन्य दो बार के विवाहों में कुछ इसी प्रकार मिले होंगे, और घर की संपत्ति भी इन दायजों से कम न रही होगी। किंतु गोस्वामी जी ने जो कुछ अपने विषय में लिखा है, उससे इन बातों का पूर्ण निराकरण हो जाता है। जैसा हम आगे देखेंगे, उन्होंने अनेक बार यह कहा है कि जन्म देने के अनंतर ही उनके माता-पिता ने उन्हें असहाय छोड़ दिया, और उन्हें उदर-पूर्ति के लिये दर दर की ठोकरें खानी पड़ीं, और जाति-कुजाति सभी के टुकड़े खाकर उदर-भरण करना पड़ा।

फलतः यह चरित्र, ऊपर जिन चरित्रों को हमने देखा है, उन्हीं की दिशा में कुछ उनसे भी आगे बढ़ा हुआ है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

तुलसी साहिब लिखित आत्मचरित

निर्गुण उपासना वाले एक संत तुलसी साहब नाम के (सं० १८२०-१६००) हाथरस में रहा करते थे। इन्होंने 'घट रामायण' नाम की एक रचना की है, जिसमें इन्होंने अपने को गोस्वामी जी का अवतार बताते हुए अपने उस जन्म का आत्मचरित भी लिखा है (पृ० ४१५-४१८) । यह चरित्र बहुत संक्षिप्त है। इसमें चमत्कारपूर्ण विवरणों और प्रसंगों को नितांत अभाव है। तिथियाँ भी इनी-गिनी दी हुई हैं। इन तिथियों में से भी गणना-द्वारा शुद्धता केवल तीन की ही जाँची जा सकती है, क्योंकि शेष के आवश्यक विस्तार नहीं दिए हुए हैं। और इन तीन में से केवल एक तिथि शुद्ध उतरती है। जिन थोड़े से व्यक्तियों और घटनाओं के उल्लेख इसमें मिलते हैं, उनके विषय में भी इस प्रकार के कोई ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त नहीं हैं कि उनके विषय के कथनों की प्रामाणिकता जाँची जा सके। ऐसी अवस्था में हम अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि अपने को जिन गोस्वामी तुलसीदास का अवतार यह कहना चाहते थे, उनके विषय में अपनी समझ से पर्याप्त जाँच करके उन्होंने यह वृत्त लिखा होगा, क्योंकि इन्हें इस बात का भी भय रहा होगा कि गोस्वामी तुलसीदास के विषय में जो कुछ यह लिख रहे हैं, उसके असत्य सिद्ध होने पर इनके संत होने पर से भी लोगों की आस्था जाती रहेगी।

'भक्तमाल' और उसकी टीका

'भक्त माल' के लेखक नाभादास जी तुलसीदास जी के समकालीन थे। 'भक्त माल' में उन्होंने अपने समसामयिक और पूर्ववर्ती भक्तों का गुणगान किया है (छप्पय १२६)। इसमें उन्होंने एक छंद गोस्वामी जी के विषय का भी लिखा है। इस छंद में मुख्य रूप से यही कहा गया है कि त्रेता युग के वाल्मीकि ने कलियुग में तुलसी के रूप में अवतार धारण किया है।

प्रियादास की टीका में (रचना-काल सं० १७६६) कुछ विस्तार अवश्य है; प्रायः ११ छंदों में गोस्वामी जी के चरित्र का वर्णन किया गया है। किंतु यह वर्णन भवानीदास के 'गोसाईं चरित' के समान ही प्रसंगों में विभाजित है, और उन प्रसंगों में कोई तिथि-क्रम या घटना-क्रम नहीं है। इन प्रसंगों में जो विस्तार दिए गए हैं, वे भी भवानीदास के 'गोसाईं चरित' के समान ही; गोस्वामी जी की दिव्य शक्तियों का परिचय मात्र देने के उद्देश्य से दिए गए हैं। फलतः यहाँ भी निराश ही होना पड़ता है।

नंददास की वार्ता

पुष्टिमार्गीय साहित्य में एक रचना 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका निश्चित रचना-काल ज्ञात नहीं है, किंतु इसमें सं० १७३६ की तिथि और उक्त तिथि की कुछ घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं, जिससे यह निश्चित है कि प्रस्तुत रूप में यह सं० १७३६ के बाद की कृति है। इस वार्ता में मुख्यतः यही कहा गया है कि तुलसीदास नंददास के बड़े भाई थे; तुलसीदास रामभक्त थे, और नंददास कृष्णभक्त; एक बार तुलसीदास नंददास से मिलने के लिए ब्रज पधारे; उस अवसर पर रामभक्त तुलसीदास को नंददास के आराध्य श्री गोवर्धननाथ जी, और गुरु गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने चमत्कारों से अभिभूत कर दिया—श्री गोवर्धननाथ जी की कृष्णमूर्ति ने राममूर्ति के रूप में उन्हें दर्शन दिए ही, गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के आदेशानुसार उनके पुत्र रघुनाथ और इनकी नवविवाहिता वधू ने भी उन्हें राम-सीता की झाँकी दिखाई। कृष्णमूर्ति के राममूर्ति में बदल कर दर्शन देने के प्रसंग तो उपर्युक्त 'गोसाईं चरित' तथा 'मूल गोसाईं चरित' में भी मिलते हैं, इस वार्ता ने इतना और किया है कि उसने पुष्टिमार्ग के गुरु में उस दिव्य शक्ति की प्रतिष्ठा भी की है, जिसके द्वारा वे किसी रामभक्त को अपने

पुत्र और पुत्रवधू तक में राम-जानकी के दर्शन करा सकें। रामभक्ति पर कृष्णभक्ति की विजय कैसे विचित्र ढंग से दिखाई गई है !

फलतः इस वार्ता को भी उसी कोटि में रखना पड़ेगा जिस कोटि में हमने ऊपर 'गोसाईं चरित' और 'मूल गोसाईं चरित' को रक्खा है। अंतर इतना ही है कि उक्त चरित्रों में गोस्वामी जी द्वारा चमत्कार प्रतिपादित कराए गए हैं, और रामभक्त तुलसीदास के चरणों में वृद्धतर कृष्णभक्त महात्माओं की श्रद्धांजलि अर्पित कराई गई है, और इस वार्ता में पुष्टि-मार्गीय गुरु गोस्वामी विट्ठलनाथ जी द्वारा चमत्कार प्रतिपादित करा कर रामभक्ति का उपहास कराया गया है—अपने पुत्र और पुत्रवधू तक में राम-सीता के दर्शन करा देना कुछ इसी प्रकार की बात लगती है। यह ध्यान देने योग्य है कि सं० १७६६ में लिखने वाले एक अन्य संप्रदाय के कृष्णभक्त प्रियादास ने 'भक्तमाल' के तुलसीदास-विषयक छप्पय पर लिखी हुई अपनी टीका में इस प्रकार का कोई प्रयास नहीं किया है।

'भविष्य महा पुराण'

'भविष्य महा पुराण' (प्रतिसर्ग पर्व, खंड ४, अध्याय २२, श्लो० ९-११) में भी तुलसीदास के विषय में उल्लेख मिलता है। उसका सारांश यह है कि मुकुंद ब्रह्मचारी ने, जो शंकराचार्य के गोत्रज थे, बाबर द्वारा भ्रष्ट किए जाने पर अपने बीस शिष्यों के साथ अग्नि में प्रवेश किया, और ये ही बीस शिष्य पीछे बीस संतों के रूप में अवतरित हुए; मुकुंद ब्रह्मचारी का एक शिष्य श्रीधर नाम का था, वही अनप शर्मा का पुत्र होकर तुलसीदास के रूप में अवतरित हुआ, यह पुराणों में परम विख्यात हुआ, और अपनी पत्नी के उपदेशों से प्रेरित होकर विरक्त हुआ, और राघवानंद के पास काशी जाकर रामानंदी संप्रदाय में दीक्षित हुआ।

इस विवरण में भी जिस ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव है, वह प्रकट है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद ने ही उत्तरी भारत के भक्ति आंदोलन को जन्म दिया, पाठकों में कुछ इस प्रकार की धारणा उत्पन्न करना लेखक का अभीष्ट प्रतीत होता है।

ऊपर के विवेचनों से प्रकट हो गया होगा कि गोस्वामी जी की इन जीवनियों से हमारा कार्य नहीं चल सकता है। हमें इनके अतिरिक्त जो सामग्री प्राप्त है, उस पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

२—स्थानीय सामग्रियाँ

अनेक स्थानों पर गोस्वामी जी के जीवन से संबंध रखने वाली सामग्रियाँ पाई जाती हैं। इनमें से सर्वप्रमुख स्थानों की सामग्रियों का परिचय नीचे दिया जाता है।

काशी की सामग्री

गोस्वामी जी के जीवन के अधिकांश का संबंध काशी से रहा है, किंतु जो सामग्री यहाँ पर प्राप्त होती है, वह अत्यल्प है। उनके स्थान असीघाट पर एक पुरानी इमारत है। उसमें हनुमान जी की मूर्ति तथा कुछ अन्य मूर्तियाँ, लकड़ी का एक टुकड़ा जो उस नाव का बताया जाता है जिस पर गोस्वामी जी गंगा के उस पार जाया करते थे, एक जोड़ी खड़ाऊँ और एक चित्र—इतनी ही सामग्री उनके समय की बताई जाती है। चित्र तो पुराना नहीं है, यह उसकी शैली तथा रंग आदि से स्पष्ट ज्ञात होता है, खड़ाऊँ निस्संदेह नई है, लकड़ी उसी नाव की है जिस पर गोस्वामी जी गंगा के पार जाया करते थे या और किसी नाव की, यह पता लगाना असंभव है, हनुमान जी की मूर्ति और कुछ अन्य मूर्तियाँ गोस्वामी जी के समय की हो सकती हैं, इमारत मरम्मतों और पुनर्निर्माणों के अनंतर अंशतः ही पुरानी रह गई है, और उतनी भी इमारत गोस्वामी जी के समय की है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

वहाँ के गोपाल मंदिर के निकट एक स्थान का खँडहर है, जहाँ पर कहा जाता है कि गोस्वामी जी ने 'विनयपत्रिका' के कुछ पदों की रचना की थी।

वहाँ के प्रह्लाद घाट पर किन्हीं गंगाराम ज्योतिषी का स्थान है। उक्त स्थान के उत्तराधिकारियों के पास एक प्राचीन चित्र है, जिस पर 'सं० १६५५' तथा 'तुलसीदास' लिखे हुए हैं, और कहा जाता है कि इसे जहाँगीर ने बनवाया था। 'सं० १६५५' और 'तुलसीदास' इस चित्र पर विभिन्न लेखनियों और स्याहियों से लिखे हुए हैं, जिससे अनुमान यह होता है कि 'तुलसीदास' मात्र पहले चित्र पर लिखा हुआ था, पुनः उसके अनंतर 'सं० १६५५' भी लिख दिया गया। इस चित्र के संबंध में कलाविदों की राय यह है कि यह उस समय का नहीं हो सकता। इसमें जिस शैली की इमारत बनाई गई है, उसके विषय में तो काशी के प्रसिद्ध कला मर्मज्ञ राय कृष्णदास जी का कहना है कि वह बहुत पीछे मुहम्मद शाह के समय में प्रचलित हुई। यह चित्र गोस्वामी जी के किसी प्रामाणिक चित्र की प्रतिलिपि है, यह भी कहना कठिन है। इसी स्थान पर पहले सं० १६५५ की गोस्वामी जी के हाथ की लिखी 'रामाज्ञा प्रश्न' की प्रति का होना बताया जाता है। संभव है उस प्रति का समकालीन समझ कर इस चित्र पर भी पीछे से वह तिथि डाल दी गई हो।

काशी के कुछ और स्थानों के साथ भी गोस्वामी जी का संबंध बताया जाता है, किंतु विशेष उल्लेख के योग्य कोई सामग्री इन स्थानों पर नहीं प्राप्त होती है।

असीघाट के स्थान पर गोस्वामी जी के पिछले उत्तराधिकारियों के कुछ कागज़-पत्र अवश्य प्राप्त हुए हैं। ये प्रामाणिक हैं, सनदों और दान-पत्रों के रूप में हैं, और गोस्वामी जी तथा उक्त स्थान संबंधी कुछ समस्याओं पर मूल्यवान् प्रकाश डालते हैं।

इन स्थानों के अतिरिक्त काशी की दो और सामग्रियाँ उल्लेनीय हैं: एक है वाल्मीकीय 'रामायण' के उत्तर कांड की हस्तलिखित प्रति, जिसकी समाप्ति पर "संवत् १६४१ समये मार्ग सुदि रवौ लि० तुलसी

दासेन" लिखा हुआ है; और दूसरी है एक पंचायतनामा, जिसके द्वारा गोस्वामी जी के समकालीन और पड़ोसी टोडर चौधरी के देहावसान के अनंतर उनके उत्तराधिकार का निपटारा उनके उत्तराधिकारियों के बीच हुआ था। इस पर "सं० १६६६ आश्विन शुक्ल १३ शुभ दिन" की तिथि दी हुई है। इस पंचायतनामे के सिरे की ही कुछ पंक्तियाँ गोस्वामी जी के हाथ की लिखी कही जाती हैं, किंतु गोस्वामी जी का हस्ताक्षर इस पंचायतनामे पर कहीं नहीं है। गणना के अनुसार दोनों तिथियाँ शुद्ध उतरती हैं। दोनों लिखावटों में २९ वर्षों का अंतर है, किंतु लिखावटों की शैली आदि में जो अंतर है उसका समाधान समय के इस अंतर से ही नहीं किया जा सकता—दोनो दो विभिन्न व्यक्तियों की लिखावटें जैसी लगती हैं। इसलिए हो सकता है कि केवल वाल्मीकीय 'रामायण' की लिखावट गोस्वामी जी की हो, दूसरी न हो।

अयोध्या की सामग्री

अयोध्या में एक स्थान है जो तुलसी चौरा नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं कि गोस्वामी जी ने 'राम चरित मानस' की रचना इसी स्थान पर की थी। इस चौरे के संबंध में एक फ़कीर मोहन साईं का रचा हुआ एक गीत बताया गया है, और इन मोहन साईं का समय सं० १८१२ बताया गया है (माधुरी, वर्ष १२, खंड २, पृष्ठ-३६४)। इस गीत में कहा गया है गोस्वामी जी ने यहीं मानस-प्रणमय का प्रारंभ सं० १६३१ की रामनवमी को किया, और सं०१६३३ में रामविवाह तिथि पर—अर्थात् मार्गशीर्ष शुक्ला ५ को उसे यहीं समाप्त किया। इससे ज्ञात होता है कि अब से प्रायः २०० वर्ष पूर्व 'मानस' की तिथि के विषय में अयोध्या में इस प्रकार की जनश्रुति थी।

अयोध्या में एक अन्य महत्व की सामग्री 'राम चरित मानस' के बालकांड की एक प्रति है, जो वहाँ के श्रावणकुंज नामक मंदिर में

है। इस प्रति के विषय में कहा गया है कि इसमें कई स्थलों पर किए गए संशोधन स्वतः गोस्वामी जी के हाथ के हैं। प्रश्न यह है कि यह कथन कहाँ तक ठीक है। प्रति की समाप्ति पर उसकी तिथि "संवत १६६१ वैशाख शुदि ६ बुधे" दी हुई है। किंतु यह तिथि गणना से शुद्ध नहीं उतरती है। प्रति को ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि १६६१ का दूसरा ६ पहले ६ था, उसमें पीछे से पेट और दुम बढ़ा कर उसे ६ बना दिया गया है। सं० १६६१ में गणना करने पर तिथि शुद्ध उतरती है। अतः इस प्रति के संशोधन गोस्वामी जी के नहीं हो सकते। वे संशोधन जो गोस्वामी जी के हाथ के बताए जाते हैं इतने अशुद्ध भी हैं, कि वे वैसे भी गोस्वामी जी के नहीं हो सकते।

राजापुर की सामग्री

बाँदा जिले में राजापुर एक स्थान है। अब से ६०-६२ वर्ष पूर्व यहाँ पर यमुना के तट पर एक कच्चा मकान था, जो गोस्वामी जी का स्थान कहा जाता था। यमुना की बाढ़ में वह किसी समय नष्ट हो गया। अब उसका चित्र मात्र शेष है। इसके अनंतर एक पक्का मकान नदी से कुछ हट कर वहाँ पर बनाया गया। यह विद्यमान है। इसमें काले पत्थर की एक मूर्ति है, जो यमुना की रेत में मिली हुई बताई जाती है, और 'राम चरित मानस' के अयोध्या कांड की एक प्रति है। मूर्ति गोस्वामी जी की बताई जाती है, और इसके विरोध में कोई बात न मिलने के कारण उनको मानी जा सकती है। अभी कुछ ही दिन हुए आधुनिक हिंदी गद्य के जन्मदाताओं में से एक, और भागवत के अपने समय के प्रख्यात प्रवक्ता मुंशी सदासुख लाल की मूर्ति प्राप्त हुई है, जो प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में सुरक्षित है। इससे ज्ञात होता है कि संतों और भक्तों की मूर्तियाँ निर्मित होने की प्रथा विगत शताब्दी तक थी। कोई आश्चर्य नहीं कि इसी प्रकार राजापुर-निवासियों ने भी गोस्वामी जी का स्मारक बनाकर उसमें यह

२

मूर्ति रक्खी हो, और उस स्मारक के जलमग्न होने पर यह मूर्ति भी यमुना में जलमग्न हो गई हो, और यमुना के हटने पर पीछे कभी मिली हो।

यहाँ पर 'मानस' के अयोध्या कांड की जो प्रति है, वह स्वतः गोस्वामी जी के हाथ की लिखी कही जाती है। प्रति की समाप्ति पर कोई उल्लेख प्रतिलिपिकार अथवा प्रतिलिपि-तिथि के विषय में नहीं है। प्रति का पाठ अशुद्धियों से शून्य नहीं है, और कई स्थलों पर पंक्तियाँ की पंक्तियाँ छूटी हुई हैं—प्रतिलिपि करने वाला भूल से उन्हें छोड़कर आगे बढ़ गया है। ऐसी दशा में यह मानना कठिन है कि वह स्वतः कवि की लिखी प्रति है।

इस स्थान के उत्तराधिकारियों के पास कुछ ऐसी प्राचीन सनदें भी हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र के शासक उनके पूर्वजों को एक दीर्घ काल से गोस्वामी जी का उत्तराधिकारी मानते आ रहे हैं। कहा जाता है कि जिस उपाध्याय वंश के अधिकार में यह स्थान है, उसके कोई पूर्वज गणपति उपाध्याय गोस्वामी जी के शिष्य थे, और वे ही पीछे गोस्वामी जी के इस स्थान के प्रथम उत्तराधिकारी भी हुए।

इस कस्बे में कुछ रीति-रिवाज ऐसे रहे हैं—जो यद्यपि अब बहुत-कुछ लुप्त हो चुके हैं—गोस्वामी जी के चलाए हुए बताए जाते हैं। यहाँ पर तुलसीदास जी के विषय में कुछ जनश्रुतियाँ भी प्रचलित हैं। जन्मस्थान के लिए खींच-तान के इस युग में जनश्रुतियों का अपने प्राचीन रूप में मिलना असंभव हो गया है, किंतु ५०—७५ वर्ष पूर्व जनश्रुतियाँ इतनी विकृत न रही होंगी। उस समय की कुछ जनश्रुतियों को बाँदा ज़िले के गजेटियर में, जिसके सं० १९३१ तथा १९६६ के संस्करण हैं, राजापुर कस्बे का विवरण देते हुए दिया गया है। ये जनश्रुतियाँ ऊपर उल्लिखित राजापुर की समस्त सामग्री के विषय की हैं। किंतु एक जनश्रुति इनके अतिरिक्त भी है, वह है राजा-

पुर कस्बे की स्थापना के विषय को। गज़ेटिर के दोनों संस्करणों में यह लिखा गया है कि प्रसिद्धि यह है कि राजापुर कस्बे की स्थापना अकबर के शासन-काल में तुलसीदास ने की, जो सोरो, तहसील कासगंज, ज़िला एटा से आए थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि जनश्रुतियों का यह उल्लेख महत्वपूर्ण है।

सोरों की सामग्री

पिछले कुछ वर्षों में ऊपर उल्लिखित सोरों में बहुत सी सामग्री गोस्वामी जी के प्रारंभिक जीवन और विशेष रूप से उनके जन्मस्थान के विषय में प्रकाश में लाई गई है। अभी तक इस प्रकार की सामग्री का निकलना समाप्त नहीं हुआ है, इसलिए यहाँ पर केवल देखी हुई सामग्री का उल्लेख किया जा सकता है।

इनमें से प्रथम दो सब से प्राचीन कही जाने वाली सामग्रियाँ 'राम चरित मानस' के बाल तथा अरण्य कांडों की प्रतियाँ हैं। बाल कांड की प्रति की पुष्पिका में लिखा हुआ है "संवत् १६४३ शाके··· १५०८··· वासी नंददास पुत्र कृष्णदास हेत लिखी रघुनाथदास ने कासीपुरी में" इस पुष्पिका के '६' तथा '४' के बीच में और पुनः 'शाके' के 'के' और '१५०६' के '१' के बीच में इतना स्थान छूटा हुआ है कि दूसरे अंक और वर्ण आ सकते हैं; '५' और '८' के बीच में जो शून्य है, वह विंदु मात्र है, शून्य की भाँति नहीं बनाया गया है; और इस पुष्पिका के अधिकांश पर स्याही फेरी गई है, जिससे पहिले की लिखावट की लेखन-शैली भली भाँति दब गई है।

अरण्यकांड की प्रति की पुष्पिका में लिखा हुआ है "श्री तुलसीदास गुरु की आज्ञा सों उनके भ्रातासुत कृष्नदास सोरो छेत्र निवासी हेत लिखित लछिमनदास कासी जी मध्ये संवत १६४३ असाढ़ सुद्ध ४ सुक्रे इति।" इस पुष्पिका में स्याही केवल तिथि के अंकों पर फेरी

गई है, और १,४ तथा ३ की तुलना में ६ को इतना बड़ा बनाया गया है कि उसका आकार शेष अंकों का प्रायः ड़ेढ़ गुना हो गया है। शेष अंश की लिखावट ऐसी है कि वह मूल प्रति की लिखावट से नहीं मिलती है।

तीसरी उपर्युक्त कृष्णदास रचित कही गई 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य भाषा' की एक प्रति है, जिसका रचना-काल सं० १६७० बताया गया है और प्रतिलिपि-काल सं० १८७० बताया गया है। इस प्रति की लिखावट के बारे में एक विचित्रता यह है कि प्रत्येक शब्द एक दूसरे से अंतर दे दे कर लिखा हुआ है, जैसा आजकल होता है, सटाकर नहीं, जैसा हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में पाया जाता है।

चौथी मुरलीधर चतुर्वेदी रचित 'रत्नावली' नाम की जीवनी की एक प्रति है, जिसका रचना-काल सं० १८२६ बताया गया है, और प्रतिलिपि-काल सं० १८६४। इस रचना की शब्दावली कहीं-कहीं पर आधुनिक ज्ञात होती है, और इसमें जो जीवन-वृत्त रत्नावली के पति होने के नाते गोस्वामी जी का दिया गया है, वह जैसा हम अभी देखेंगे, गोस्वामी जी के आत्मोल्लेखों के विरुद्ध पड़ता है।

पाँचवीं 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' की दो प्रतियाँ हैं, जो क्रमशः सं०१८७४ तथा १८७५ की कही गई हैं। इनमें गोस्वामी जी की धर्मपत्नी रत्नावली की रचाएँ संगृहीत बताई गई हैं। इन प्रतियों के संबंध में साधारणतः कोई संदेहास्पद बात नहीं दिखाई देती है। किंतु जैसा हम देख चुके हैं, और अभी देखेंगे, सोरों की प्रत्येक अन्य सामग्री के संदेहात्मक होने के कारण यदि इस सामग्री पर भी विश्वास न हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

छठी है 'दोहा रत्नावली' जो 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' से किंचित बड़ा संग्रह रत्नावली के दोहों का बताया गया है। इसकी कोई प्राचीन

हस्तलिखित प्रति अभी तक देखने में नहीं आई है, केवल एक हाल का ही मुद्रित संस्करण प्राप्त है। इसमें कुछ ऐसी सामग्री भी है जो स्पष्ट रूप से गोस्वामी जी द्वारा किए गए आत्मोल्लेखों के विरुद्ध पड़ती है।

उदाहरण के लिए इसमें निम्नलिखित दोहे आते हैं :

बैस बारहीं कर गहयों सोरहिं गवन कराय।
सत्ताइस लागत करी नाथ रतन असहाय॥
सागर कर रस ससि रतन संबत भो दुखदाय।
पिय बियोग जननी मरन करन न भूल्यो जाय॥

पहले दोहे का आशय प्रकट है। दूसरे दोहे में जो प्रतीक आए हैं, वे क्रमशः ७, २, ६, तथा १ के हैं, और विपरीत क्रम से उनको पढ़ने पर—जैसी इन तिथियों के पढ़ने की प्रणाली है—तिथि सं० १६२७ आती है। २७ वें वर्ष में और सं० १६२७ में रत्नावली अपने पति से वियुक्त हुई, इसलिए 'दोहा रत्नावली' के अनुसार उसका विवाह बारहवें वर्ष में सं० १६१२ में माना जावेगा।

'रत्नावली' नाम की जीवनी में इन पंद्रह वर्षों के समय का कुछ विस्तृत परिचय मिलता है। इस परिचय की निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं :

दंपति बसि बाराह धाम। लहत मोद आठोहु याम।
भक्तनु घर बाँचहिं पुरान। तुलसी लहहिं धन और मान।
तुलसी ही बहु करत प्यार। रत्नावलि भइ हृदय हार।
ताहि न चाहत आँखि ओट। ओट होति हिय लगति चोट।
सिथिल परी प्रभु भजन रीति। बाढ़ी तिय में अधिक प्रीति।

इस प्रेममय जीवन की चरम परिणति तब दिखाई पड़ती है जब 'रत्नावली' के लेखक के अनुसार गोस्वामी जी माइके गई हुई अपनी स्त्री से मिलने के लिए अर्धरात्रि के समय वर्षा की भयानक गंगा को पार कर

ससुराल पहुँचते हैं, और उसके ज्ञानपूर्ण वार्तालाप से महाभिनिष्क्रमण करते हैं।

गोस्वामी जी की रचनाओं को देखने पर कुछ दूसरी ही बात इन वर्षों में हुई ज्ञात होती है। उनकी एक रचना 'रामाज्ञा प्रश्न' है, जिसका रचना-काल सं० १६२१ है, जो पुस्तक में दिया हुआ है। उसमें चित्रकूट के विषय के ऐसे दोहे आए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना के बहुत पूर्व ही रागादि को छोड़ कर विषयों से विरक्त हो चुके थे, और इस अवस्था में कम से कम ६ मास तक उन्होंने चित्रकूट-सेवन करते हुए राम नाम की साधना भी की थी। 'रामाज्ञा प्रश्न' के निम्नलिखित दोहे इस संबंध में ध्यान देने योग्य हैं :

पय पावनि बन भूमि भलि सैल सुहावनि पीठि।
रागिहि सीठि बिशेष थलि बिषय बिरागिहि मीठि॥
सगुन सकल संकट समन चित्रकूट चलि जाहु।
सीताराम प्रसाद सुभ लघु साधन बड़ लाहु॥
पय नहाइ फल खाइ जपु राम नाम षट मास।
सगुन सुमंगल सिद्धि सबु करतल तुलसीदास॥

सोरों की उपर्युक्त सामग्री में सं० १६१२ से १६२७ तक का जो चित्र गोस्वामी जी का खींचा गया है, उससे यह कितना भिन्न है! एक में धन-मान-लाभ की ओर ध्यान, प्रभु-भजन-रीति की उपेक्षा और प्रियतमा से मिलने के लिए प्राणों तक की बाज़ी लगाने का हुलास है, और दूसरे में विषयों से विराग, और ६ महीने तक केवल फलों का आहार करते हुए सीताराम की कृपा की प्राप्ति के लिए चित्रकूट में राम नाम जप की साधना है। सोरों की सामग्री में तो तीर्थयात्रा के निमित्त तक गोस्वामी जी के चित्रकूट जाने का उल्लेख नहीं है, विरक्त होकर उनके चित्रकूट-सेवन की कौन कहे।

कुछ सामग्री सोरों में जनश्रुतियों के रूप में भी मिलती बताई जाती है, जो उपर्युक्त लिपिबद्ध सामग्री की समर्थिका है। जन्मस्थान और जाति-पाँति संबंधी खींच-तान और प्रचार के इस युग में इन जनश्रुतियों में—यदि ये किसी अंश में पाई भी जाती हों—प्राचीनता और प्रामाणिकता कितनी है, यह जानना असंभव हो गया है। यह अवश्य ज्ञात होता है कि ये जनश्रुतियाँ आज से ५०-७५ वर्ष पूर्व नहीं थीं, क्योंकि एटा ज़िले के गज़ेटियर में सोरों का परिचय देते हुए इस प्रकार की किसी जनश्रुति का उल्लेख न तो उसके सं० १६३१ के संस्करण में किया गया है, और न उसके सं० १६६६ के संस्करण में।

फलतः सोरों की यह संपूर्ण सामग्री अत्यंत संदिग्ध जान पड़ती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट हो गया होगा कि गोस्वामी जी की जीवन-सामग्रियों में बहुत थोड़ा अंश ऐसा है जिसका उपयोग गोस्वामी जी के जीवन वृत्त-निर्माण में किया जा सकता है, और उनका यह उपयोग भी बड़ी सतर्कता के साथ करना होगा।

३—कृतियाँ

कवि के अध्ययन की तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण आधारभूत सामग्री कवि की कृतियाँ हैं। इन पर नीचे विचार किया जाता है।

साधारणतः निम्नलिखित कृतियाँ गोस्वामी जी की मानी जाती हैं:

(१) रामलला नहछू, (२) वैराग्य संदीपिनी, (३) रामाज्ञा प्रश्न, (४) जानकी मंगल, (५) राम चरित मानस, (६) पार्वती मंगल; (७) गीतावली, (८) कृष्ण गीतावली, (९) विनय पत्रिका, (१०) बरवै, (११) दोहावली, (१२) कवितावली और बाहुक

इनमें से 'रामलला नहछू' के विषय में संदेह इसलिए किया गया है कि इसमें कवि के उपास्य के पिता दशरथ नहछू के अवसर पर आई हुई प्रजावर्ग की नारियों के रूप-यौवन पर मुग्ध होते दिखाए गए हैं। यह शंका उस पाठ को दृष्टि में रखकर की गई है जो मुद्रित रूप में प्रकाशित मिलता है। 'रामलला नहछू' की एक प्रति प्रस्तुत लेखक को ऐसी भी प्राप्त हुई है जिसमें यह अंश नहीं है। असंभव नहीं है कि यह अंश प्रक्षिप्त हो। ग्रंथ के पाठ-निर्धारण की आवश्यकता प्रकट है। पुनः उसकी शैली में शैथिल्य भी है। किंतु यदि वह कवि की प्रारंभिक रचनाओं में से हो, तो इस प्रकार का शैथिल्य भी उसमें हो सकता है।

'रामाज्ञा प्रश्न' के संबंध में संदेह इसलिए प्रकट किया गया है कि एक तो इसकी शैली शिथिल है, और दूसरे इसमें राम-परशुराम-मिलन जनक की स्वयंवर-सभा में न होकर विवाह के अनंतर बारात की वापसी में होता है। इन शंकाओं के उत्तर में यह जान लेना चाहिए

कि जैसा हम आगे देखेंगे, 'रामाज्ञा प्रश्न' 'राम चरित मानस' से दस वर्ष पूर्व की रचना है, इसलिए 'मानस' की तुलना में उसकी शैली में शैथिल्य हो सकता है, यद्यपि वह भी अधिक नहीं है, और उसकी कथावस्तु में अंतर हो सकता है, जिस प्रकार 'जानकी मंगल' और 'गीतावली' में है, जिनके विषय में इस प्रकार का संदेह नहीं किया गया है।

'वैराग्य संदीपिनी' के विषय में भी उसकी शिथिल शैली, अव्यवस्थित छंद-योजना, और किंचित भिन्न विचार-धारा के कारण संदेह प्रकट किया गया है। 'वैराग्य संदीपिनी' की हस्तलिखित प्रतियों में मुद्रित से भिन्न पाठ नहीं मिलता। और प्राप्त पाठ के संबंध में जो शंकाएँ उठाई गई हैं, वे उचित लगती हैं। इन शंकाओं का किंचित समाधान अधिक से अधिक यह मान कर किया जा सकता है कि 'वैराग्य संदीपिनी' कवि की अति प्रारंभिक कृतियों में से है।

'बरवै' के संबंध में मुख्यतः इस कारण संदेह प्रकट किया गया है कि शृंगार-चित्रण में जो संयम कवि ने अपनी प्रामाणिक रचनाओं में दिखाया है, उसका किंचित अतिक्रमण उसमें कवि के उपास्य देवता और देवी राम-सीता के विषय में ही दिखाई पड़ता है। यह शंका उचित है, किंतु यह शंका मुद्रित पाठ को ही दृष्टि में रख कर की गई है। प्रस्तुत लेखक ने 'बरवै' का एक ऐसा पाठ भी देखा है जिसमें रामचरित-संबंधी पूर्वार्द्ध के वे छंद ही नहीं हैं जिनमें उक्त प्रकार का शृंगार-चित्रण हुआ है। इनके स्थान पर उसमें रामभक्ति संबंधी भिन्न छंद हैं। अतः आवश्यकता इस ग्रंथ के संबंध में भी पाठ-निर्धारण की है। असंभव नहीं कि कथाभाग के ये छंद पाठ-खोज में प्रक्षिप्त प्रमाणित हों।

'दोहावली' के संबंध में भी संदेह किया गया है, और वह इस कारण किया गया है कि 'सतसई' नाम का लगभग उसी आकार का

एक अन्य दोहा-संग्रह भी कवि का बताया जाता है, और 'दोहावली' के बहुत से दोहे उस संग्रह में भी पाए जाते हैं। गोस्वामी जी ने बहुत से सामान्य छंद लेकर स्वतः इस प्रकार के दो संग्रह किए प्रस्तुत होंगे, यह कम संभव प्रतीत होता है। फलतः इन दो में से कौन सा प्रामाणिक और कौन सा संग्रह अप्रामाणिक माना जाए, यह प्रश्न संग्रह स्वभावतः उठता है।

'सतसई' में उसका रचना-काल इस प्रकार दिया हुआ हैः

अहि रसना, थन धेनु, रस, गनपति द्विज, गुरुवार।
माधव सित सिय जनम तिथि सतसैया अवतार॥

प्रथम दो चरणों के प्रतीकों से क्रमशः २,४,६ और १ को संख्याएँ प्राप्त होती हैं, जिन्हें कविप्रथा के अनुसार विपरीत क्रम से पढ़ने पर संवत् १६४२ निकलता है, दिन गुरुवार दिया हुआ है, और सीता के विवाह की तिथि वैशाख शुक्ल ६ है। इस प्रकार तिथि का यथेष्ट विस्तार दिया हुआ है। किंतु गणना करने पर यह विस्तार शुद्ध नहीं आता है। इसके अतिरिक्त 'सतसई' के जो दोहे 'दोहावली' में नहीं हैं, उनकी शैली भी गोस्वामी जी की नहीं ज्ञात होती है। दो उदाहरण पर्याप्त होंगेः

जहाँ रहत बरतन तहाँ तुलसी नित्यस्वरूप।
भूतरु भावी ताहि कर अतिसय अमल अनूप॥
स्वास समीर प्रतच्छ अप स्वच्छादर्स लखात।
तुलसी रामप्रसाद बिन अबिगत जानि न जात॥

इस प्रकार के अतिरिक्त दोहों में जो विचार-धारा दिखाई पड़ती है, वह भी गोस्वामी जी के प्रामाणिक ग्रंथों में पाई जानेवाली विचार-धारा से भिन्न है। इसलिए यह प्रकट है कि 'सतसई' गोस्वामी जी की रचना नहीं है। 'दोहावली' के विषय में इस प्रकार की कोई कठि-

नाइयाँ नहीं हैं, और उसकी शैली और विचार-धारा पूर्ण भी रूप से गोस्वामी जी की है, इसलिए उसी को गोस्वामी जी का दोहा-संग्रह मानना होगा।

'कवितावली' के विषय में इस कारण शंका उठाई गई है कि उसके कुछ छंद शिवसिंह सेंगर ने अपने 'शिवसिंह सरोज' में भृङ्ग कवि की रचनाओं के उदाहरण में दिए गए हैं। असंभव नहीं कि स्फुट काव्य-संग्रह होने के कारण इस प्रकार के कुछ छंद 'कविता-वली' में आ गए हैं, किंतु वास्तव में इस प्रकार के छंद आ गए हैं, यह तभी कहा जा सकता है जब 'कवितावली' की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को लेकर उसका ठीक ठीक पाठ निर्धारित कर लिया जावे; अतः इसकी आवश्यकता प्रकट है।

ऊपर की शेष रचनाओं के सबंध में न शंकाएँ उठाई गई हैं, और न शंका करने के कोई कारण ज्ञात होते हैं।

ऊपर लिखी एक दर्जन कृतियों के अतिरिक्त निम्नलिखित कृतियाँ भी गोस्वामी जी की कही गई हैं:

(१) अंकावली, (२) बजरंग बाण, (३) बजरंग साठिका, (४) भरत मिलाप, (५) विजय दोहावली, (६) बृहस्पति कांड, (७) छंदावली रामायण, (८) छप्पय रामायण, (९) धर्मराय की गीता, (१०) ध्रुव प्रश्नावली, (११) गीता भाषा, (१२) हनुमान स्तोत्र, (१३) हनुमान चालीसा, (१४) हनुमान पंचक, (१५) ज्ञान दीपिका, और (१६) राम मुक्तावली।

प्रतियों की प्राचीनता, शैली और विचार-धारा के ध्यान से उपर्युक्त में से अधिकतर रचनाएँ गोस्वामी जी की नहीं ज्ञात होती हैं। किंतु हो सकता है कि इस सूची की कुछ रचनाएँ गोस्वामी जी की ही हों, और उनके अति प्रारंभिक रचना-काल की होने के कारण इन बातों

में उनकी अन्य रचनाओं से कुछ भिन्न और हीन ज्ञात होती हों। किंतु इन प्रामाणिक रचनाओं को शेष से आवश्यक निश्चय के साथ अलग करना सुगम नहीं है, और जब तक वह हो नहीं जाता कवि के अध्ययन में इन रचनाओं की सहायता नहीं ली जा सकती।

अध्ययन का आधार फलतः उन्हीं रचनाओं को मानना पड़ेगा जिनके संबंध में ऊपर हम देख चुके हैं कि संदेह करने का कोई कारण नहीं है।

४—जीवन-वृत्त

आने वाले पृष्ठों में कवि के जीवन की अत्यंत प्रमुख घटनाओं पर प्राप्त साक्ष्य के आधार पर विचार करते हुए कवि का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया जा रहा है।

जन्मतिथि

कवि ने स्वतः अपनी जन्मतिथि या अवस्था अपनी किसी कृति में नहीं दी है। एक लेखक ने 'राम मुक्तावली' की एक पंक्ति से उसकी रचना के समय कवि की अवस्था १२० वर्ष की मानी है (सरस्वती, भाग २०, पृ० ७७); किंतु 'राममुक्तावली' की शैली और विचार-धारा निश्चित रूप से इस प्रकार की है कि यह गोस्वामी जी की रचना नहीं मानी जा सकती। 'राम चरित मानस' की एक टीका 'मानस-मयंक' के लेखक ने सं० १५५४ में जन्म माना था (पृ० ६१); और 'मूल गोसाईं चरित' में भी यही तिथि, यद्यपि पूरे विस्तार के साथ, दी हुई है। शिवसिंह सेंगर ने अपने 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है कि "यह महात्मा सं० १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे" (पृ० २७)। ग्रियर्सन ने लिखा है कि सबसे अधिक विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि गोस्वामी जी का जन्म सं० १५८९ में हुआ था (इंडियन ऐंटिक्वेरी, १८९३, पृ० २६४); तुलसी साहब ने भी 'घट रामायण' में यही तिथि, यद्यपि पूरे विस्तार के साथ, दी है। विल्सन ने (रेलिजस सेक्ट्स आव दि हिंदूज़, पृ० ४१) सं० १६०० के लगभग गोस्वामी जी का जन्म माना है। प्रश्न यह है कि इनमें से कौन सी तिथि मान्य है।

जैसा हम आगे देखेंगे, गोस्वामी जी का प्रारंभिक जीवन बड़ा

संकटपूर्ण था : उन्हें अपने उदर-भरण के लिये भी दर दर की ठोकरें खानी पड़ती थी, क्योंकि माता और पिता से वे शैशवावस्था में ही बंचित हो गए थे। ऐसी दशा में उनकी शिक्षा-दीक्षा भी उचित समय पर न हुई होगी। जब वे स्वयं इसकी आवश्यकता का अनुभव करने लगे होंगे, कदाचित् तब उनकी प्रवृत्ति इस ओर हुई होगा, और इस विषय में बहुत कुछ उन्हें स्वतः करना पड़ा होगा। ऐसी दशा में केवल २१ वर्षों की अवस्था में 'रामाज्ञा प्रश्न' जैसी बहुत कुछ मँजी हुई रचना, और ३१ वर्षों की अवस्था में 'राम चरित मानस' जैसी अत्यंत प्रौढ़ और गूढ़ रचना उन्होंने की होगी, यह कल्पना नहीं की जा सकती। सं० १६०० की तिथि इसलिये अमान्य लगती है। दूसरे छोर पर, सं० १५५४ की तिथि मानने पर 'कवितावली' और 'दोहावली' के अनेक छंदों की रचना निश्चित रूप से ११८-१२० वर्ष की ठहरती है, और कोई भी रचना, यहाँ तक कि सं० १६२१ की 'रामाज्ञा प्रश्न' भी, निश्चित रूप से ६७ वर्षों की अवस्था से पूर्व की नहीं मानी जा सकती। फलतः यह परिस्थिति भी किसी प्रकार मान्य नहीं प्रतीत होती है। सं० १५६० की तिथि की भी लगभग यही दशा है। "सं० १५८३ के लगभग" और सं० १५८९ में से किसी का विरोध गोस्वामी जी के जीवन के ज्ञात तथ्यों से नहीं है, और सभी प्रकार से ये तिथियाँ संभव लगती हैं। इन दोनों में से भी सं० १५८९ की तिथि अधिक मान्य प्रतीत होती है, क्योंकि "सं० १५८३ के लगभग" की तिथि केवल अनुमानाश्रित है, और सं० १५८९ की तिथि कम से कम १५० वर्ष प्राचीन जनश्रुतियों पर आधारित है—उसका उल्लेख अब से ५६ वर्ष पूर्व ग्रियर्सन ने तो किया ही है संत तुलसी साहिब (सं० १८२०-१९००) ने भी किया है, जो अपने को गोस्वामी जी का अवतार कहते थे। साथ ही उसका जो विस्तार "भादों सुदी ११ मंगलवार" उन्होंने दिया है, वह गणना से ठीक उतरता है।

जन्मस्थान

यद्यपि कुछ और स्थान भी पहले गोस्वामी जी का जन्मस्थान होने का दावा करते थे, किन्तु अब संघर्ष राजापुर और सोरो के बीच तक सीमित है। गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में इस विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है, यद्यपि दोनों पक्षों के समर्थकों ने अपने अपने मत की पुष्टि में गोस्वामी जी की रचनाओं से पंक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

राजापुर-पक्ष के समर्थकों का कहना है कि 'राम चरित मानस' के अयोध्या कांड में जो तापस-प्रकरण (अयोध्या कांड, दो० ११०, १११) मिलता है, वह इसी भावना से रक्खा गया है कि कवि के आराध्य ने कवि के जन्मस्थान में पदार्पण किया था, और वहाँ पर उनका स्वागत करना उसका धर्म था।

सोरों-पक्ष के लोग 'मानस' की निम्नलिखित पंक्तियों को सामने रखते हैं :

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥

और कहते हैं कि दोहे का 'सूकरखेत' सोरों है, और यहीं पर उन्होंने अत्यंत अल्पावस्था में अपने गुरु नरसिंह चौधरी से रामकथा सुनी; यदि 'सोरो' उनका जन्म स्थान न होता, तो 'बालपन' और 'अति अचेत' अवस्था में वे गुरु के मुख से सोरों में कैसे रामकथा सुनते—राजापुर जैसे स्थान से इस अवस्था में सोरों पहुँचना तो प्रायः असंभव ही था।

राजापुर-पक्ष के विरुद्ध वे 'विनय पत्रिका' (पद १३५) की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी प्रस्तुत करते हैं :—

दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को॥

यह भरत खंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलप बल्ली चहति बिष फल फली॥

और कहते हैं कि 'जनम' का उल्लेख करते हुए जो उन्होंने समीप सुरसरि' कहा है, उससे आशय यह लेना चाहिए कि उनका जन्म सुरसरि के समीपस्थ किसी स्थान पर हुआ था। सोरों के निकट गंगा जी की धारा बहती है, और राजापुर यमुना के तट पर स्थित है, इसलिए राजापुर तो जन्मस्थान हो ही नहीं सकता, सोरों को ही जन्म-स्थान होना चाहिए।

कहना नहीं होगा कि इन तीनों उद्धरणों से अर्थ निकालने में पूरी खींच-तान की गई है। अयोध्या कांड के तापस-प्रकरण में स्पष्ट तो नहीं कहा गया है, किंतु किसी तापस के नाम के अभाव में इस बात की यथेष्ट संभावना प्रतीत होती है कि कवि स्वतः तापस के वेष में वहाँ अपनी स्थिति की कल्पना करके अपने आराध्य का उस प्रदेश में स्वागत करता है। तो भी इससे निष्कर्ष इतना ही निकालना समीचीन होगा कि वह उसकी साधना या तप की स्थली थी। असंभव नहीं कि जन्मस्थान भी उक्त तपस्वी का वहीं रहा हो, किन्तु उक्त प्रकरण से इस प्रकार का निष्कर्ष आवश्यक रूप से नहीं निकाला जा सकता। वह तो उसी प्रकार का स्वागत है जिस प्रकार का स्वागत राम की वन-यात्रा में अनेक तपस्वियों ने अपने आश्रमों पर उनके पहुँचने पर किया है।

दोहे में जो 'सूकरखेत' आया है, उसके संबंध में साधारणतः यह धारणा रही है कि वह अयोध्या के निकट सरयू और घाघरा के संगम पर स्थित बाराहक्षेत्र नामक तीर्थ है, नामों के पर्याय गोस्वामी जी के 'मानस' में प्रायः मिलते हैं, यथा 'दशरथ' के लिए 'दस स्यंदन', और 'बाराहक्षेत्र' के स्थान पर 'सूकरखेत' नाम उसी प्रवृत्ति के अनुरूप है। दूसरी बात यह है कि अल्पावस्था में किसी स्थान पर

पहुँचने के लिए भी यह अनिवार्य नहीं है कि उस व्यक्ति का जन्म भी वहाँ हुआ हो। तीसरी बात यह है कि 'बालपन' और 'अति अचेत' अवस्था का जो उल्लेख दोहे में हुआ है, उसके शाब्दिक अर्थ न ले कर उसकी ध्वनि लेनी चाहिए, और यह ध्वनि बाद की पंक्तियों से स्पष्ट होती है :—

श्रोता बकता ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझौं मैं मंदमति कलिमल ग्रसित बिमूढ़॥
तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।

यहाँ 'बालपन' और 'अति अचेत' अवस्था में होने का तात्पर्य इतना ही है कि उस प्रकार के ज्ञान का, विलक्षण बुद्धि का और धर्माचरण-जनित संस्कारों का अभाव था जिनके ही आश्रय से रामकथा की गूढ़ता सुगम हो सकती थी। अन्यथा कोई निरे बच्चे को बार बार ऐसी गूढ़ रामकथा क्यों सुनाता? कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उत्तर में यथार्थता है। इस प्रसंग में एक और बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है—वह है 'सोरों' नाम की व्युत्पत्ति पर। 'सूकर क्षेत्र' से 'सोरों' भाषा-विज्ञान के किसी नियम के अनुसार नहीं बन सकता; 'सूकर क्षेत्र' का 'सूअर खेत' या 'सुअर खेत' होगा। 'सोरों' तो स्पष्ट ही 'सुअराँव' और 'शूकर ग्राम' की विकृति है।

इस अंतर्साक्ष्य के अतिरिक्त प्रचुर मात्रा का बहिर्साक्ष्य दोनों पक्षों के लोग प्रस्तुत करते हैं—विशेष रूप सोरों के पंडितों ने इस बहिर्साक्ष्य की, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, भरमार कर दी है। ऊपर जीवन-सामग्रियों पर विचार करते हुए उसकी प्रामाणिकता की परीक्षा हम कर चुके हैं। उपर्युक्त समस्त बहिरंग सामग्री में से केवल निम्न-लिखित इस प्रसंग में विचारणीय प्रतीत होती हैं :—

(१) संत तुलसी साहब (सं० १८२०—१९००) का यह कथन कि वे अपने पूर्व जन्म में, जब उन्होंने 'रामायण' की रचना की थी,

यमुना तट पर स्थित राजापुर में उत्पन्न हुए थे।

(२) राजापुर में तुलसीदास के स्थान के संबंध की निम्नलिखित सनद (वीणा, वैशाख सं० १९९२, पृ० ५४६) :—

"आमिलान हाल इस्तकबाल परगना गहोरा सिरक कालींजर सूबे इलाहाबाद के......आगे प [...] मदारी लाल [...] सांई तुलसीदास के [...] समै का महसूल......राजापुर अमलै पर बमूजब सनद बादशाही व सूबेदारान व राजा बुन्देलखंड...है सो सिरकार मैं हाल है...ता० २१ सावान सन् १२ "

कहा गया है कि इस इबारत में जो अंश कोष्ठकों के भीतर दिखाया गया है, वह काग़ज़ के कीड़ों के द्वारा सनद के क्षत-विक्षत किए जाने के कारण निकल गया है। उपर्युक्त तीन में से दो स्थलों पर क्षतिपूर्ति सुगम है; पहले स्थान पर 'पं [डित]' और दूसरे स्थान पर कोई ऐसा शब्द जिससे मदारीलाल का गोसाईं तुलसीदास से संबंध बताया गया है, और '[गो] साईं' पाठ होना चाहिए यह स्पष्ट है। तीसरे स्थान पर पाठ राजापुर पक्षवालों के अनुसार '[बं] स मै का' होना चाहिए, और राजापुर में गोस्वामी जी का वंश होने पर उनका जन्मस्थान भी राजापुर होना चाहिए।

(३) बाँदा ज़िले के गज़ेटियर (सं० १९३१, सं० १९६६) में राजापुर क़स्बे की उत्पत्ति का इतिहास लिखते हुए इस जनश्रुति का उल्लेख कि इस नगर के संस्थापक तुलसीदास थे, जो यहाँ सोरों से आए थे।

जहाँ तक संत तुलसी साहिब के साक्ष्य का प्रश्न है, यद्यपि सभी समझदार व्यक्तियों को यह मानने में कठिनाई हो सकती है कि वे गोस्वामी जी के अवतार थे, और इस नाते गोस्वामी जी के विषय में उनके कथन प्रमाण माने जाने चाहिएँ, यह मानने में कदाचित् ही किसी को आपत्ति हो सकती है कि गोस्वामी जी के विषय के जो

उल्लेख उन्होंने किए हैं, कम से कम अपने समय में (आज से प्रायः १५० वर्ष पूर्व) प्रचलित जनश्रुतियों के आधार पर किए हैं। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अपने स्थान हाथरस के समीपस्थ सोरों को छोड़ कर दूर के राजापुर के साथ उन्हें मोह होने का भी कोई कारण नहीं था। इसलिए यह साक्ष्य असाधारण महत्त्व का है।

जहाँ तक उल्लिखित सनद के साक्ष्य का प्रश्न है, तीसरे कटे हुए स्थान के पाठ को "[बं] स मै का" मानने में कठिनाई प्रतीत होती है, क्योंकि "बंस मै का महसूल" प्रयोग की दृष्टि से ठीक नहीं ज्ञात होता। वंश में कोई व्यक्ति ही होता है, महसूल आदि का होना ठीक नहीं है। किंतु "वंश से संबंधित" के अर्थ में "बंस मै का" का लिख दिया जाना असंभव नहीं है

जहाँ तक गज़ेटियर के साक्ष्य का प्रश्न है, उससे यही परिणाम निकाला जा सकता है कि अब से ५०-७५ वर्ष पूर्व बाँदा ज़िले या राजापुर में भी इस प्रकार की कोई जनश्रुति प्रचलित थी कि राजापुर के संस्थापक तुलसीदास वहाँ सोरों से आए थे।

ऊपर के समस्त साक्ष्यों पर सामूहिक रूप से विचार करने पर इतना तो निश्चित सा हो जाता है कि राजापुर से गोस्वामी जी का संबंध था, कम से कम वह उनकी तपस्थली अवश्य थी; यदि उल्लिखित सनद का प्रस्तावित पाठ मान लिया जावे, तो वहाँ पर कम से कम उनके वंशजों का होना भी माना जा सकता है; और संत तुलसी साहब के साक्ष्य के अनुसार यह भी माना जा सकता है कि प्रायः १५० वर्ष पूर्व राजापुर से बहुत दूर और सोरों के बहुत निकट हाथरस तक में यह अनुश्रुति थी कि गोस्वामी जी का जन्म यमुना तटस्थ राजापुर में हुआ था। सोरों के जन्मस्थान होने के पक्ष में इतने भी मान्य साक्ष्य उपर्युक्त में से कोई नहीं है। फलतः प्रस्तुत साक्ष्यों के आधार पर राजापुर या उसके अति निकट किसी स्थान के गोस्वामी जी

के जन्मस्थान होने की संभावना अपेक्षाकृत कहीं अधिक ज्ञात होती है।

जाति-पाँति

अपनी रचनाओं में गोस्वामी जी ने केवल ब्राह्मण होने का संकेत किया है। 'कवितावली' के एक छंद (उत्तर० १०२) में कलियुग से वे कहते हैं :—

ब्राह्मन ज्यों उगिल्यो उरगारि हौं त्यों ही तिहारे हिए न हितैहौं।

किंतु वे कौन से ब्राह्मण थे, अथवा उनका उपकुल कौन सा था, इस संबंध में उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है।

एक लेखक का मत है कि गोस्वामी जी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, क्योंकि उन्होंने 'विनयपत्रिका' की नीचे लिखी पंक्ति (पद १०६) में वाजपेयी को ब्राह्मणों में उच्चतम कुल माना है :

कौन धौं सोमजागी अजामिल अधम
कौन गजराज धौं वाजपेई ॥

किंतु प्रसंग से प्रकट है कि यहाँ पर कुल का प्रसंग नहीं है, प्रसंग कर्मों का है। ऊपर की पंक्तियाँ हैं:—

कीस केवट उपल भालु निसिचर सबरि गीध सम दम दया दान हीने।
नाम लिए राम किए परन पावन सकल तरत नर तिन्हके गुनगान कीन्हे॥
ब्याध अपराध की साध राखी कौन पिंगला कौन मति भक्ति भेई।

और इस प्रसंग में विवेचनीय पंक्ति का अर्थ होगा "नीच अजामिल (जो ब्राह्मण था) कौन सा सोमयज्ञ करने वाला था, अथवा गजेन्द्र कौन-सा वाजपेय यज्ञ करने वाला था।"

फलतः उक्त लेखक का कथन मान्य नहीं हो सकता है।

एक और विद्वान ने 'कवितावली' (उत्तर० ७३) की निम्न-लिखित पंक्ति में आए हुए 'मंगन' शब्द से गोस्वामी जी के किसी सरयूपारीण कुल में उत्पन्न होने की ध्वनि ली है, क्योंकि कहा जाता

है कि दान ग्रहण करने के कारण ही सरयूपारीण वर्ग को कान्यकुब्जों से अलग होना पड़ा था ;

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो
सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को।

किंतु प्रसंग में 'मंगन' शब्द का सामान्य अर्थ 'माँग जाँच कर निर्वाह करने वाला' ही अभीष्ट ज्ञात होता है, जैसा बाद वाली निम्न-लिखित पंक्ति से प्रकट है :

बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हो चारि फलचारि ही चनक को॥

सोरों पक्ष के लोग गोस्वामी जी को सनाढ्य ब्राह्मण बताते हुए 'विनयपत्रिका' (पद १३५) में आई हुई निम्नलिखित पंक्ति से आशय यह लेते हैं कि गोस्वामी जी का जन्म शुक्ल वंश में हुआ था :

दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।

सनाढ्य तो गोस्वामी जी को वे सोरों की सामग्री के आधार पर कहते हैं, जिस सामग्री की प्रामाणिकता पर विचार किया जा चुका है। किंतु 'दियो सुकुल जनम' का अर्थ तो प्रसंग को सम्मुख रखते हुए लेना पड़ेगा, और ऊपर की पंक्तियाँ हैं :

राम सनेही सों तै न सनेह कियो।
अगम जो अमरनि सो तनु तोहि दियो।

स्पष्ट ही यहाँ पर अर्थ है "राम ने, ऐ तुलसीदास, तुझे अच्छे कुल में जन्म दिया।"

"तुझे शुक्ल कुल में जन्म दिया" अर्थ तो किसी प्रकार संभव नहीं है।

बहिरंग सामग्री में से केवल संत तुलसीदास (सं० १८२०-१९००) का साक्ष्य विचारणीय है। उन्होंने अपनी 'घट रामायण' में लिखा है कि वे अपने पूर्व जन्म में, जब वे 'रामायण' के रचयिता तुलसीदास थे,

कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। संत तुलसी साहब महाराष्ट्र निवासी थे, और जति-पाँति के भेद-भाव के विरोधी थे। उनके स्थान हाथरस के पास सनाढ्य ब्राह्मण ही प्रायः पाए जाते हैं। ब्राह्मणों के किसी विशेष कुल या उपकुल के साथ उन्हें कोई पक्षपात नहीं हो सकता था। इसलिए यह माना जा सकता है कि उन्होंने अपने समय में प्रचलित जनश्रुति का ही ठीक-ठीक उल्लेख इस संबंध में भी किया है। फलतः विरोध में दृढ़तर साक्ष्य के अभाव में यह माना जा सकता है कि गोस्वामी जी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके उपकुल के संबंध में पर्याप्त साक्ष्य का अभाव है।

जीवन का प्रारंभ

अपने बाल्य जीवन के संबंध में अनेक संकेत गोस्वामी जी ने किए हैं। 'कवितावली' के एक छंद (उतर० ७६) में अपने जन्म के अवसर वाले बधावे के विषय में उन्होंने लिखा है:

> जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि
>
> भयो परिताप पाप जननी जनक को।

इस प्रांत में 'बधावे' के संबंध का प्रचलन यह है कि पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर उसके प्रसूत गृह से निकलने के अनंतर प्रसूता की ननद यथा सामर्थ्य नवजात शिशु के लिए उपहार में सोने या चाँदी के आभरण और वस्त्र और प्रसूता के लिए वस्त्र लाती है, और इन्हें थालों में सजा कर अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियों के साथ गाती बजाती हुई मुहल्ले या गाँव में घूमती है, और फिर उन्हें प्रदान करती हैं। इस अवसर पर जो बाजे ढोल आदि बजाए जाते हैं, उन्हीं को 'बधावे का बजना' कहते हैं। इस उपहार को स्वीकार करते हुए नवजात शिशु के माता-पिता प्रत्युपहार में यथा सामर्थ्य उसके उपहार से अधिक मूल्य के आभरण-वस्त्रादि और द्रव्य—प्रायः सवा गुने मूल्य की भेंट—उसे प्रदान करते हैं। "मेरे जन्म का बधावा सुनकर मेरे माता-पिता को 'परिताप का पाप'

हुआ—इस प्रकार का घोर क्लेश हुआ जिस प्रकार का घोर क्लेश कोई पाप कर बैठने पर होता है, कारण यह था कि वे 'मंगन' थे—माँग जाँचकर उदर पूर्ति किया करते थे—(और मेरी बुआ को बधाई की बिदाई में उतनी भी भेंट न दे सकते थे जितना वह उपहार में लाई थी)।" उपर्युक्त पंक्ति का आशय यही ज्ञात होता है। ननद ने बधावा बजवाया—सारे गाँव ने सुना कि अमुक महाशय के घर पुत्रोत्पत्ति हुई है, और नवजात शिशु और प्रसूता को उसकी बुआ उपहार में इस प्रकार के सामान दे रही है, उसे लौटाया कैसे जावेगा? किंतु 'मंगन' ब्राह्मण उस उपहार को स्वीकार करते हुए प्रत्युपहार में अपनी बहन को देगा क्या? और बहन-बेटी का धन-धान्य बिना पूरा दाम चुकाए और अपनी ओर से कुछ अतिरिक्त द्रव्य या उपहार दिए ग्रहण करना भी पाप है—हिंदू समाज में ऐसा ही माना गया है। इसलिए यदि तुलसीदास के माता-पिता को उस बधावे को सुन कर इस प्रकार का घोर क्लेश हुआ हो तो हो सकता है।

इस आत्मोल्लेख को लेकर दो प्रकार के अनुमान और किए गए हैं: एक तो यह कि तुलसीदास पाप कर्म की संतान थे, इसलिए उनके माता-पिता का इस प्रकार को घोर क्लेश बधावे के बजने पर हुआ। किंतु यदि ऐसा होता, तो बधावा ही क्यों फिरता? दूसरा यह कि तुलसीदास अभुक्त मूल नक्षत्र में पैदा हुए थे, जिसमें उत्पन्न बालक पितृहंता समझा जाता है—अर्थात् यह कि उसके जन्म के कुछ ही समय के भीतर माता और पिता का देहांत तक हो जावेगा, इसलिए उनके माता-पिता को इस प्रकार का घोर क्लेश हुआ। इस अनुमान के लिए पर्याप्त आधार नहीं ज्ञात होता है। 'जायो कुल मंगन' की इस अर्थ के साथ कोई संगति नहीं बैठती, इसलिए और भी यह अर्थ ग्राह्य नहीं प्रतीत होता है। पहले प्रस्तुत लेखक भी इस अर्थ के पक्ष में था, किंतु अब नहीं है।

बाल्यकाल

'कवितावली' के एक अन्य छंद (उत्तर० ५७) में कवि ने कहा है :

मातु-पिता जग जाइ तज्यो बिधिहू न लिखी कछु भाल भलाई ।

और 'विनयपत्रिका' के एक पद (पद २७५) में उसने कहा है:

तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु-पिता हूँ ।

'कुटिल कीट' से आशय प्रायः बिच्छू या किसी ऐसे कीड़े से लिया गया है जिसका मादा प्रसव के अनंतर ही मर जाता है, और इस अर्थ के साथ 'तज्यो' का यह अर्थ लगाया गया है कि जन्म के कुछ ही समय पश्चात् तुलसीदास के माता पिता मर गए। किंतु यहाँ पर आशय यह नहीं ज्ञात होता है, क्योंकि उपर्युक्त आत्मोल्लेखों में केवल माता नहीं है, पिता भी साथ-साथ है। और इस प्रकार शिशु जन्म के अनंतर तत्काल मृत्यु कवि के माता-पिता की हुई भी नहीं है, क्योंकि अन्यत्र कम से कम बधावे तक सुनने का उल्लेख है, जो प्रसूतगृह से शिशु के निकलने पर फिरा करता है। मैं समझता हूँ कि 'कुटिल कीट' का आशय उपर्युक्त 'मंगन' के प्रसंग में लेना चाहिए। 'कीट' में नंगे-भूखे, आश्रय और साधनहीन की ध्वनि होती है। और 'कीट' 'कुटिल' इसलिए होता ही है कि मानव, पशु और पक्षी प्राणी की भाँति वह अपने बच्चे का उसकी अति कोमल अवस्था में भी पोषण नहीं करता। जन्म देने के अनंतर तुलसीदास के माता-पिता संभवतः अपनी आर्थिक कठिनाइयों के कारण उनका यथावत् पालन-पोषण न कर सके, कम से कम इतना निष्कर्ष तो उपर्युक्त पंक्तियों से लेना अवश्यंभावी लगता है।

किस अवस्था में तुलसीदास माता-पिता से अलग हुए होंगे, यह भी विचारणीय है। 'कवितावली' (उत्तर० ७३) में किंचित् ऊपर उद्धृत पंक्तियों के अनंतर निम्नलिखित पंक्तियाँ आती हैं :—

बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानत सो चारि फल चारि ही चनक को ।

इस उल्लेख से ऐसा ज्ञात होता है कि अत्यंत अल्पावस्था से ही तुलसीदास को भिक्षावृत्ति का आश्रय लेना पड़ा। हो सकता है कि जैसे ही तुलसीदास माँगने-खाने के योग्य हुए हों, उनके माता-पिता ने उन्हें अलग कर दिया हो—स्वतः वे अन्यत्र चले गए हों, या लड़के को कह दिया हो कि अन्यत्र वह जाकर माँगे-खाए। एक ही स्थान पर रहते हुए पिता-पुत्र का उदर-भरण भिक्षावृत्ति से होने में यदि कठिनाई हुई हो तो आश्चर्य नहीं।

अन्य कल्पनाएँ, जैसे ऊपर जन्म के संबंध में, यह की गई हैं कि पाप कर्म की संतान होने के कारण अथवा अभुक्त मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण उन्हें माता-पिता ने छोड़ दिया। इन दोनों के लिए, जन्म संबंधी प्रसंग में जैसा कहा गया है, पर्याप्त कारण नहीं ज्ञात होता।

हनुमदाश्रय

'बाहुक' के कई छंदों में गोस्वामी जी ने इस प्रकार का संकेत किया है कि बाल्यकाल में ही उन्हें हनुमान का आश्रय प्राप्त हो गया था, और उन्हीं ने बालक तुलसीदास का पालन-पोषण किया:

बालक बिलोकि बलि बारे ते आपनो किये (बाहुक २१)
पालो तेरे टूक को परे हूँ चूक मूकिए न (बाहुक ३४)
टूकनि को घर घर डोलत कँगाल बोलि
बाल ज्यों कृपाल नतपाल पालिपोसो है (बाहुक ३२)

जिससे आशय यह ज्ञात होता है कि किसी हनुमान-मंदिर में उनका भरण-पोषण होने लगा था। 'विनय पत्रिका' के एक पद में उन्होंने यह भी कहा है कि वे हनुमान जी के नाम से खीचीं लेकर खाया करते थे :—

खायो खोंची माँगि तेरो नाम लिया रे।
तेरे बल बलि आजु लौं जग जागि जिया रे॥ (पद ३३)

बाजारों और मंडियों में प्रायः हनुमान जी के निमित्त, किसी हनुमान मंदिर के नाम पर खोंची निकाली जाया करती है, जिसे कहीं कहीं 'महाबीरी' कहते हैं। बाज़ार या मंडी की बड़ाई-छोटाई के अनुसार इस 'महाबीरी' से अधिक या कम आय भी हुआ करती है। उपर्युक्त कथन उसी 'महाबीरी' की ओर संकेत करता है।

गुरु

स्वतः गोस्वामी जी ने अपने गुरु के विषय में केवल निम्नलिखित कथन किए हैं :—

बंदौं गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर॥ (मानस, वंदना)
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥
तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा। (वही, ३१)
बहुमत सुनि गुनि पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो॥ (विनय० १७३)

कहा जाता है कि ऊपर दी हुई 'नर रूप हरि' शब्दावली के द्वारा गोस्वामी जी ने अपने गुरु का नाम 'नरहरि' या 'नरहरिदास' बताया है। किंतु यह कथन ठीक नहीं लगता है। यदि अपने गुरु का नाम गोस्वामी जी को यहाँ लेना होता, तो इतने चलते ढंग पर वे न लेते, कुछ न कुछ शिष्टाचार तो वे अवश्य ही बर्तते। 'नर रूप हरि' का आशय 'नर रूप में नारायण' मात्र है, और यह प्रसंग में भली भाँति लगता है। गुरु के विषय में गोस्वामी जी ने और जो कुछ कहा है, उससे इतना ही ज्ञात होता है कि वे बहुज्ञ थे, रामभक्त थे, रामकथा कहा करते थे, और कदाचित् सूकर खेत (वाराह क्षेत्र ?) में रहा भी करते थे,

जहाँ गोस्वामी जी ने अपने आध्यात्मिक जीवन के प्रभात में उनसे रामकथा सुनी।

इस अपर्याप्त उल्लेख के कारण ही गुरु के विषय में अनेक कथन किए गए हैं। विल्सन ने किसी जनश्रुति के अनुसार गोस्वामी जी को नाभादास जी के किसी शिष्य जगन्नाथदास का शिष्य बताया है। (रेलिजस सेक्ट्स आव दि हिंदूज, पृ० ४१) यदि ऐसा होता, तो गोस्वामी जी को वाल्मीकि का अवतार बताते हुए नाभादास जी अपने 'भक्तमाल' में इस संबंध का भी उल्लेख करते। इसी प्रकार 'भविष्य महा पुराण' में जैसा ऊपर अन्यत्र कहा जा चुका है, गोस्वामी जी को किन्हीं रामानंदी राघवानंद का शिष्य कहा गया है। रामानंद जी की शिष्य परंपरा में गोस्वामी जी के समय तक किसी राघवानंद के होने के प्रमाण प्राप्त नहीं हैं। ग्रियर्सन ने रामानंद जी के शिष्य सुरसुरानंद की शिष्य-परंपरा में सुरसुरानंद जी से छठीं पीढ़ी में किन्हीं नरहरिदास को गोस्वामी जी का गुरु माना है, और इसके संबंध में उक्त शिष्य-परंपरा की दो मिलती-जुलती सूचियाँ दी हैं, जो उन्हें कहीं से प्राप्त हुई थीं। नाभादास जी स्वतः रामानंद जी की शिष्य-परंपरा में थे, और उन्होंने सुरसुरानंद की शिष्य परंपरा में ऐसे अज्ञात संतों तक का उल्लेख किया है जैसे केशव लटेरा (छप्पय १७२)। यदि गोस्वामी जी भी सुरसुरानंद की शिष्य-परंपरा में होते, तो कोई कारण नहीं था कि उनके संबंध में भी उसका उल्लेख वे न करते। सोरों की सामग्री के अनुसार गोस्वामी जी के गुरु सोरों निवासी नरसिंह चौधरी थे। इस सामग्री पर ऊपर हम पर्याप्त विचार कर चुके हैं।

गृहस्थाश्रम

गोस्वामी जी ने अपने विवाहित जीवन के संबंध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं किया है। किंतु एक स्थान पर 'बाहुक' में (छंद ४०) उन्होंने 'लोकरीति' में पड़ने का उल्लेख किया है:

बालपने सूधे मन राम सनमुख गयो
रामनाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं ।
परयो लोकरीति में पुनीत प्रीति राम राय
मोह बस बैठ्यो तोरि तरक तराक हौं ॥
खोट खोटे आचरन आचरत अपनायो
अंजनी कुमार, सोध्यो राम पानि पाक हौं।
तुलसी गोसाईं भयो भोंडे दिन भूल गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं ।

यह 'लोकरीति' स्पष्ट ही 'लोकधंधा' का समानार्थी है ।

इसके अतिरिक्त 'दोहावली' में एक दोहा है (दोहा २५५), जो नव विरक्त पत्ति को उसकी पत्नी द्वारा संबोधित है : —

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग ।
कै खरिया मोहि मेलि कै बिमल बिबेक बिराग ॥

असंभव नहीं कि यह दोहा गोस्वामी जी की पत्नी ही द्वारा उन्हें संबोधित हो ।

काशी-आगमन

'कवितावली' (उत्तर० १६२) में गोस्वामी जी ने कहा है :—

चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरो हर
पाँय तर आइ रह्यों सुरसरि तीर हौं ।

जिससे ज्ञात होता है कि काशी आने के पूर्व गोस्वामी जी राम के सेवक हो चुके थे । वे काशी कब आए, यह उनकी रचनाओं से ज्ञात नहीं होता । उन रचनाओं में से जिनकी तिथियाँ स्वतः उन्होंने दी हैं, केवल 'मानस' (किष्किंधा०, वंदना) में काशी-सेवन का उल्लेख आता है :—

मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञान खानि अघ हानि कर ।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न ॥

जिससे इतना ही कहा जा सकता है कि 'मानस रचना' (सं० १६३१) तक वे काशी आ गए थे। संत तुलसी साहिब ने ऊपर उल्लिखित आत्मकथा में काशी-आगमन की तिथि सं० १६१५, चैत्र १२, मंगलवार दी है। गणना से शुक्ल या कृष्ण किसी पक्ष में चैत्र १२ को मंगलवार नहीं पड़ता। इसलिए यह तिथि शुद्ध नहीं है। किंतु सं० १६१५ में या उसके लगभग ही गोस्वामी जी का काशी पहुँचना संभव है।

सम्मान-वृद्धि

संत और रामभक्त गोस्वामी जी का आदर क्रमशः बढ़ने लगा, उन्होंने इसकी ओर संकेत स्वतः किया है (देखिए कविता०, उत्तर० ६४)। यह सम्मान इतना बढ़ा कि गोस्वामी जी महर्षि वाल्मीकि के अवतार माने जाने लगे :—

राम नाम को प्रभाउ पाउँ महिमा प्रताप
तुलसी से जग मानियत महा मुनी सो।

गोस्वामी जी के समकालीन भक्त नाभादास जी ने भी इस तथ्य का उल्लेख अपने 'भक्तमाल' (छप्पय १२६) में किया है :—

संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लिए।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भए॥

ऐसा ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी की विशेष प्रतिष्ठा-वृद्धि 'राम चरित मानस' की रचना के अनंतर हुई।

विरोध

'दोहावली' में एक स्थल पर (दोहा ४६४) गोस्वामी जी कहते हैं :—

माँगि मधुकरी खात जे सोवत गोड़ पसारि।
पाप प्रतिष्ठा बढ़ि परी ताते बाढ़ी रारि॥

इस दोहे में प्रतिष्ठा-वृद्धि के कारण जो विरोध-वृद्धि की बात कही है, वह बहुत कुछ अपने ही विषय में कही है, यह प्रकट है। न केवल 'दोहावली' में, 'विनय पत्रिका' और 'कवितावली' में भी अनेक स्थलों पर इस विरोध-वृद्धि की ओर स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

इस विरोध के दो रूप मिलते हैं : एक तो गोस्वामी जी की जाति-पाँति पर आक्षेप, और दूसरे उनकी साधुता पर आक्षेप। जाति-विषयक आक्षेपों का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया है :

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहूकी बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै किन कोऊ।
माँगि कै खैबो मसीत को सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ॥

(कविता०, उत्तर० १०६)

अथवा,

मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को।
अति ही अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग
साह ही को गोत गोत होत है गुलाम को।
साधु कै असाधु कै भलो कै पोच सोच कहा
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को॥

(कविता०, उत्तर० १०७)

दूसरे का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया है :

लोग कहैं पोच सो न सोचु न सँकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।

तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं ॥
(विनय० ७६)

अथवा,

कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है।
साधु जानैं महा साधु खल जानैं महा खल
बानी झूठी साँची कोटि उठत हबूब है॥
चहत न काहू सों न कहत काहू को कछु
सब की सहत उर अंतर न ऊब है।
तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है॥
(कविता०, उत्तर० १०८)

इस विरोध में सबसे आगे थे काशी के शिव-सेवक, जिन्होंने उन्हें शारीरिक बाधाएँ भी पहुँचाईं। इनके विषय में उलाहना उन्होंने इनके स्वामी शिव से ही दिया है :—

गाँव बसत बामदेव कबहुँ न निहोरे।
अधिभौतिक बाधा भई ते किंकर तोरे॥
बेगि बोलि बलि बरजिए करतूति कठोरे।
तुलसी दलि रूँध्यो चहैं सठ साखि सिंहोरे॥ (विनय० ८)

देवसरि सेवौं वामदेव गाँव रावरेई
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हौं।
दीबे जोग तुलसी न लेत काहू को कछु
लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं॥
एते पर हू जो कोऊ रावरो है जोर करै
ताको जोर देवे दीन द्वारे गुदरत हौं।

पाइ कै उराहनो उराहनो न दीजै मोहि
काल कला कासीनाथ कहे निबरत हौं ॥
(कविता०, उत्तर० १६५)

हो सकता है कि गोस्वामी जी की सुंदर रचनाओं के कारण शिवपुरी काशी में जो रामभक्ति का प्रचार होने लगा हो, उससे ये शिव-सेवक भयभीत हुए हों, और इन्हें वहाँ से निकाल बाहर करने की चेष्टा इस प्रकार की हो।

गोस्वामी जी की अनेक रचनाएँ इस युग की हैं। उनके समय आदि का विवेचन स्वतंत्र अध्याय में होगा।

रुद्र बीसी

'दोहावली' (दोहा २४०) और 'कवितावली' (उत्तर०, १७०) में गोस्वामी जी ने रुद्र बीसी का उल्लेख करते हुए उसके परिणाम-स्वरूप काशी में नाना प्रकार के उपद्रवों का उल्लेख किया है। रुद्र बीसी — या रुद्रविंशति—गोस्वामी जी के जीवन-काल में दो बार उपस्थित हुई थी: सं० १५६६ से १६१६ तक, और पुनः सं० १६५६ से १६७६ तक। 'दोहावली' और 'कवितावली' का कोई भी अंश पहली रुद्र बीसी के समय का नहीं है, दोनों के अधिकांश छंद दूसरी रुद्र बीसी के समय के हैं, इसलिए उल्लिखित रुद्र बीसी दूसरी ही है।

बाहु पीड़ा

'दोहावली' (दोहा० २७८) और 'कवितावली' (उत्तर० १६६-१६८) में कुछ पीड़ाओं के शमन के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं, यद्यपि उनके नाम नहीं कहे गए हैं। किंतु 'दोहावली' (दोहा २३४-२३६) तथा 'हनुमान बाहुक' (छंद २०—४४) में एक बाहु पीड़ा का उल्लेख है, जिससे गोस्वामी जी को एक दीर्घ काल तक कष्ट रहा। यह पीड़ा उन्हें वर्षा ऋतु में हुई थी, क्योंकि हनुमान से प्रार्थना करते हुए वे कहते हैं :—

घेरि लियो रोगनि कुलोगनि कुजोगनि ज्यों
बासर जलद घन घटा धुकि धाई है ।
बरसत बारि पीर जारिए जवासे जस
रोष बिनु दोष धूम मूल मलिनाई है ॥ (बाहुक ३५)

उन्होंने यह भी कहा है कि यह उस बाहु में हुई थी जिसे हनुमान ने पकड़ा था :

सोई बांह गही जो गही समीर डावरे । (बाहुक ३७)

किन्तु इससे यह ज्ञात नहीं होता कि वह दायीं थी, या बाईं ।

इस पीड़ा की शांति के लिए गोस्वामी जी ने कुछ उठा नहीं रक्खा; औषधि, यंत्र, मंत्र, उपचार आदि तो किये ही; यहाँ तक कि जिन देवताओं के विषय में उन्होंने लिखा है:

सीतापति साहेब सहाय हनुमान नित
हित उपदेस को महेस मान्यो गुरु कै ।
मानस बचन काय सरन तिहारे पाय,
तुम्हरे भरोसे सुर मैं न जाने सुर कै ॥

उन देवताओं की भी मनौती की, किन्तु सब व्यर्थ गए :

औषधि अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किये
बादि भर देवता मनाए अधिकाति है । (बाहुक ३०)

पुनः यह पीड़ा समस्त शरीर में फैल गई । किन्तु अंत में यह शांत हो गई :

बाहुक सुबाहु नीच लीचर मरीच मिलि
मुँह परी केतुजा कुरोग जातुधान हैं ।
रामनाम जप याग कियो चाहौं सानुराग
काल कैसे दूत भूत कहा मेरे मान हैं ॥

सुमिरे सहाइ रामलखन आखर दोइ
जिनके साके समूह जागत जहान हैं।
तुलसी सँभारि ताड़िका सँहारि भारी भट
बेधे, बरगद से बनाइ बान बान हैं ॥ (बाहुक ३६)

प्रश्न यह है कि इस बाहुपीड़ा का समय क्या होगा। बाहुपीड़ा के समस्त छंद 'बाहुक' में मिलते हैं, और 'बाहुक' प्रायः 'कविता-वली' के परिशिष्ट के रूप में मिलता है, जैसा कहा जा चुका है। 'कवितावली' की एक प्रति ऐसी भी प्राप्त हुई है जिसमें समस्त शरीर की पीड़ा के छंद नहीं हैं, और बाहुपीड़ा के भी कुछ छंद नहीं हैं। इस प्रति में मीन के शनि और महामारी के भी छंद नहीं हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इस प्रति के पाठ में वे ही छंद संग्रहीत हैं जिनकी रचना मीन के शनि के पूर्व हुई थी। मीन के शनि का समय, जैसा हम आगे देखेंगे, सं० १६६९ से १६७१ तक पड़ता है। इसलिए बाहुपीड़ा का समय सं० १६६९ से पूर्व होना चाहिए। कुछ विद्वानों ने बाहुपीड़ा को प्लेग की गिल्टी मानकर उससे कवि के देहांत तक की कल्पना की है, जो स्पष्ट ही असंभव है।

मीन के शनि

मीन राशि में शनि की स्थिति का उल्लेख 'कवितावली' में (उत्तर० १७७) करते हुए इस अवसर पर काशी में और भी उत्पात-वृद्धि बताई गई है। मीन राशि में शनि की स्थिति भी कवि के जीवन-काल में दो बार होती है : चैत्र शुक्ला ५ सं० १६४० से जेष्ठ सं० १६४२ तक, तथा चैत्र शुक्ला २ सं० १६६९ से जेष्ठ सं० १६७१ तक। इन दोनों में दूसरी स्थिति का उल्लेख होना अधिक संभव ज्ञात होता है, क्योंकि यह रुद्र बीसी के बीच पड़ती है।

महामारी

'कवितावली' के कुछ छंदों (उत्तर० १७३-१७६ तथा १८३)

में काशी में किसी महामारी के फैलने के उल्लेख आए हैं। उस महामारी का नाम गोस्वामी जी ने नहीं दिया है, और जो वर्णन उसका किया है, वह भी रूपक का आश्रय लेते हुये इस प्रकार किया है:

संकर सहर सर नर नारि बारिचर
विकल सकल महामारी माँजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरि जात
भभरि भगात जल-थल मीचुमई है॥
(उत्तर० १७६)

प्रकट है कि इस वर्णन से महामारी के भेद का निश्चय करना कठिन है।

प्रश्न यह है कि इस महामारी का समय क्या है। 'कवितावली' की जिस प्राचीन प्रति का उल्लेख ऊपर किया गया है, उसमें जिस प्रकार मीन के शनि के विषय का छंद नहीं है, उसी प्रकार महामारी के भी विषय के छंद नहीं हैं, यद्यपि उसमें रुद्र बीसी विषयक छंद है। इससे ज्ञात होता है कि महामारी भी मीन के शनि की भाँति 'कवितावली' के इस पाठ के छंदों की रचना के बाद आई।

प्रायः कहा जाता है कि यह महामारी ताऊन या प्लेग की थी। ताऊन भारत में पहले पहल सं० १६७३ में आया, और इसके विभिन्न भागों में सं० १६८१ तक रहा। अतः असंभव नहीं की जिस महामारी का वर्णन 'कवितावली' में किया गया हो वह यही हो।

'कवितावली' के एक छंद (उत्तर० १८३) में गोस्वामी जी ने इसके शांत होने का भी उल्लेख किया है।

बरतोड़

'बाहुक' के कुछ छंदों में (छंद ४०-४४) शरीर भर में बरतोड़ के फोड़ों के निकलने का कथन किया गया है, जिससे गोस्वामी जी को

अत्यधिक कष्ट था। इस कष्ट के निवारण के लिए उन्होंने राम, शिव, तथा हनुमान से, और विशेष रूप से राम से (छंद ४२) प्रार्थनाएँ कीं, किंतु परिणाम क्या हुआ ज्ञात नहीं है। एक किंवदंती इस प्रकार की अवश्य है कि गोस्वामी जी का देहांत बरतोड़ के फोड़ो से हुआ। इन छंदों की भी परिस्थिति ठीक वही है जो ऊपर महामारी संबंधी छंदों की बताई गई है। ये छंद भी 'कवितावली' की उक्त प्राचीन प्रति में नहीं मिलते हैं। अतः इनका समय भी मीन के शनि के लगभग या बाद किसी समय मानना पड़ेगा।

मृत्यु

गोस्वामी जी की मृत्युतिथि के संबंध में भी मतैक्य नहीं है। साधारणतः निम्नलिखित दोहा उनकी मृत्युतिथि के बारे में सुना जाता है :

संबत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तजे सरीर॥

संत तुलसी साहिब ने भी यही तिथि दी है। किंतु गोस्वामी जी के पड़ोसी टोडर के वंशज सदैव से गोस्वामी जी की निधन-तिथि श्रावण श्यामा तीज मानते आए हैं, और 'मूल गोसाईं चरित' में भी इस तिथि का उल्लेख हुआ है, जो रचना के अप्रामाणिक होते हुए भी संभव है किसी स्वतंत्र साक्ष्य पर आधारित हो। प्रश्न यह है कि इन दोनों में से कौन तिथि अधिक प्रामाणिक मानी जा सकती है।

श्रावण शुक्ला सप्तमी को लेकर कुछ खेती संबंधी कहावतें भी प्रचलित हैं, यथा :

श्रावण शुक्ला सप्तमी जो गरजै अधिरात।
तू पिय जायो मालवा मैं जैहौं गुजरात॥

इसलिये यह संभव है कि गोस्वामी जी की मृत्युसंबंधी जनश्रुति

में से 'श्यामा तीज' को हटा कर श्रावण शुक्ला सप्तमी ने किसी समय स्थान बना लिया हो। इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी का देहांत काशी में असीघाट पर हुआ था, यह तो उक्त दोहे में भी कहा गया है। टोडर चौधरी के वंशज गोस्वामी जी के उसी स्थान के पड़ोसी थे, और उनके कुल में अभी तक गोस्वामी जी की निधन-तिथि मनाई जाती है। तुलसी साहिब काशी से बहुत दूर हाथरस में रहते थे। इसलिए इस विषय में टोडर के वंशजों की कुल-परंपरा अधिक मान्य होनी चाहिए।

५—गोसाईं उपाधि

सामान्यतः यह माना जाता है कि तुलसीदास जी एक प्रतिष्ठित संत थे, इसलिए उनके नाम के साथ 'गोसाईं' या 'गोस्वामी' उपाधि चल पड़ी। बात इतनी ही होती तो इससे गोस्वामी जी को कोई ग्लानि या पश्चात्ताप कभी न होना चाहिए था। किन्तु हम देखते हैं कि 'बाहुक' के दो छंदो में (छंद ४०,४१) अपने 'गोसाईं' होने पर उन्होंने पश्चात्ताप किया है:

बालपने सूधे मन राम सनमुख गयो
राम नाम लेत माँगि खात टूक टाक हौं।
पर्‍यो लोकरीति में पुनीत प्रीति राम राय
मोह बस बैठ्यों तोरि तरक तराक हौं॥
खोटे-खोटे आचरन आचरत अपनायो
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं।
तुलसी गोसाईं भयो भोंड़े दिन भूलि गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं॥
असन बसन हीन विषम विषाद लीन
देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को।
तुलसी अनाथ सों सनाथ रघुनाथ कियो
दियो फल सीलसिंधु आपने सुभाय को॥
नीच यहि बीच पति पाइ भरुआइ गो
बिहाय प्रभुभजन बचन मन काय को।
तातें तनु पेपियत घोर बरतोर मिस
फूटि फूटि निकसत लोन रामराय को॥

इन आत्मोल्लेखों से ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी कभी 'गोसाईं' हुए, उन्हें अच्छे दिन देखने को मिले, और यह "पति"="वैभव" ऐसा था कि कम से कम इसके भुलावे में पड़कर प्रभु-भजन में शैथिल्य आ सकता था।

गोस्वामी जी के इस पश्चात्ताप के साथ यदि हम सं० १६५८ में रची गई 'रामचन्द्रिका' (केशव कौमुदी, भाग २, पृ० २६५) में 'मठ-धारियों' की निंदा पढ़ें, तो ऐसा ज्ञात होगा कि 'गोसाईं' से तात्पर्य कदाचित् 'मठधारी' या 'मठाधीश' से है। और असीघाट पर का तुलसीदास जी का स्थान भी कम से कम सं० १७६७ तक 'तुलसीदास-का मठ' ही कहलाता रहा है, क्योंकि सं० १७६७ में की हुई 'न्याय सिद्धांत मंजरी' की एक प्रतिलिपि (इंडिया आफ़िस लाइब्रेरी कैटेलाग आव संस्कृत मैन्युस्क्रिप्टस, खंड १, पृष्ठ ६३८ बी) में उसके प्रति-लिपिकर्त्ता जयष्कृणदास ने स्थान का नाम यही दिया है, यद्यपि इसकी स्थिति लोलार्क में बताई है, जो उसी घाट का मुहल्ला है:—

"सं० १७६७ वैशाख सुदी पूर्णिमा लिखितम् लोलार्क तुलसीदास मठे जयकृष्णदास शुभम्।"

इस स्थान पर दो पुराने पत्र बहुत महत्त्व के हैं, यद्यपि इन पर न स्थान के अधिकारियों का और न स्थानीय विद्वानों का ध्यान पर्याप्त रूप से गया है। इनमें से एक बनारस के महाराज चेतसिंह का सं १८३२ का फ़रमान है, जिसमें उन्होंने इस स्थान के लिए बाहर से आने वाले खाद्यादि को चुंगी से बरी किया है। इसमें स्थान का नाम नहीं दिया है, किंतु उस समय के महंत को "गोसाईं तुलाराम" कहा है।

दूसरा सं० १८४८ का लिखा हुआ किन्हीं शिवरतन सिंह का दानपत्र है, जिसमें स्थान का नाम "स्थान श्री गोसाईं तुलसीदास जी"

और तत्कालीन महंत का नाम "श्री गोसाईं जी पीतांबर बैस्नौ" दिया हुआ है।

इधर के महंतों के नाम के साथ 'गोसाईं' उपाधि नहीं मिलती। कारण कदाचित् यह है कि पहले गद्दी गुरु-शिष्य परंपरा में चलती थी; अब महंत गृहस्थ होने लगे हैं, और गद्दी भी एक पैत्रिक संपत्ति हो गई है।

अतः हम देखते हैं कि यह 'गोसाईं' उपाधि उक्त स्थान के महंत की उपाधि थी, क्योंकि उक्त मठ के एक निवासी जयकृष्णदास के नाम के साथ वह उपाधि नहीं लगी हुई है, जब कि लगभग उन्हीं के समय के महंत तुलाराम के नाम के साथ वह लगी हुई है, और उनके कुछ पीछे तक के महंतों के नाम साथ लगी चली आई है। फलतः ऐसा अनुमान करना कदाचित् ठीक ही होगा कि तुलसीदास जी को भी यह 'गोसाईं' उपाधि उक्त स्थान के महंत की गद्दी मिलने पर प्राप्त हुई थी।

६—रचनाओं का कालक्रम

गोस्वामी जी ने अपनी तीन ही रचनाओं की तिथियाँ दी हैं; शेष के संबंध में हम अधिक से अधिक यह अनुमान कर सकते हैं कि उनके कवि जीवन में वे किस स्थान पर आती हैं।

'रामाज्ञा प्रश्न'

गोस्वामी जी ज्ञात-तिथि रचनाओं में सब से पहले 'रामाज्ञा प्रश्न' आती है। तिथि-विषयक उल्लेख उसमें (रामाज्ञा०७-७-३) निम्न-लिखित प्रकार से किया गया है :

> सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नय बान।
> होइ सुफल सुभ जासु जस प्रीति प्रतीति प्रमान॥

प्रयुक्त प्रतीक 'शशि' से १, 'नयन' से २, 'गुण' से ६, 'नय'-'नीति' से ४ और 'वाण' से ५ के आशय निकलते हैं। 'अवधि अधिक नय बान से आशय ४ और ५ के बीच के आधिक्य अर्थात् १ से है। कवि-प्रथा के अनुसार विपरीत क्रम से इन अंकों को लेने पर तिथि सं० १६२१ की होती है। मास-तिथि-बार आदि अज्ञात हैं।

'रामचरित मानस'

दूसरी रचना जिसकी तिथि गोस्वामी जी ने दी है, 'राम चरित मानस' है। इसमें तिथि-संबंधी पंक्तियाँ (मानस, बाल०३४) निम्न लखित हैं :

> संबत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा।
> नौमी भौम बार मधु मासा। अवधपुरी येह चरित प्रकासा।
> जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सफल तहाँ चलि आवहिं।

इस प्रकार 'मानस'-प्रणयन की तिथि सं० १६३१, रामनवमी अर्थात् चैत्र शुक्ल ९, भौमवार दी हुई है। इस तिथि के संबंध में एक कठिनाई यह पड़ती है कि गणना करने पर सं० १६३१ की रामनवमी भौमवार (मंगलवार) को न पड़ कर बुधवार को पड़ती है। इस अंतर का एक समाधान यह प्रस्तुत किया गया है कि गोस्वामी जी स्मार्त वैष्णव थे, और इसलिए उन्होंने रामनवमी उस दिन मनाई होगी जिस दिन मध्याह्न में नवमी रही होगी, न कि उस दिन जिस दिन और तिथियों की भाँति वह सूर्योदय के समय रही होगी। और मध्याह्न में नवमी मंगलवार को थी। किंतु गोस्वामी जी स्मार्त वैष्णव थे, यह मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। इसलिए यह समाधान संतोषजनक नहीं ज्ञात होता है। एक अन्य समाधान भी संभव है, जिस पर विद्वानों का ध्यान पर्याप्त रूप से नहीं गया है।

संबत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा।

इस पंक्ति में जो क्रिया आई है, वर्तमान काल की है। इसके पूर्व की पंक्तियों में और बारह पंक्तियाँ बाद की पंक्तियों में भी क्रियाएँ वर्त्तमान काल की हैं। किंतु निम्नलिखित बारह पंक्तियों की क्रियाएँ भूतकाल की हैं, और अयोध्या की लिखी हुई नहीं हैं, क्योंकि अयोध्या के लिए इनमें 'तहाँ' अन्य स्थानवाची सर्वनाम का प्रयोग हुआ है। इन पंक्तियों की शेष शब्दावली भी उसी प्रकार की है :

नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।
जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।
असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक सेवा।
जनम महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम कल कीरति गाना।

मज्जहिं सज्जन बृंद बहु पावन सरजू नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर॥

दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह बेद पुराना।
नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकइ सारदा बिमल मति।
राम धामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित जग पावनि।
चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजें तनु नहिं संसारा।
सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धि प्रद मंगल खानी।
बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा।

अतः यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये पंक्तियाँ न तो उस समय की हैं जिस समय की इनके ऊपर तथा नीचे की पंक्तियाँ हैं, न रामनवमी की रची हुई हैं, और न अयोध्या की ही रची हुई हैं; ये तो निश्चित रूप से पीछे की जोड़ी हुई हैं। ऐसी स्थिति में क्या यह संभव नहीं है कि कवि को उस समय वह दिन विस्मृत हो गया रहा हो जिस दिन उसने सं० १६३१ में रामनवमी मनाई थी? अन्य समाधान की अपेक्षा यह अधिक साधार ज्ञात होता है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि यह रचना के आरंभ करने की तिथि है, जैसा ऊपर उल्लिखित 'विमल कथा कर कीन्ह अरंभा' से प्रकट है। 'मानस' समाप्त कब हुआ, इसका उल्लेख कवि ने नहीं किया है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, फ़क़ीर मोहन साई (सं० १८१२) ने और 'मूल गोसाईं चरित' के लेखक ने लिखा है कि 'मानस' सं० १६३३ में सीता-विवाह तिथि पर अर्थात् मार्ग शुक्ला ५ को समाप्त हुआ। इससे ज्ञात होता है कि इस प्रकार की कोई जनश्रुति रही है। किसी विरोधी साक्ष्य के अभाव में इस तिथि के मान लेने में कोई आपत्ति नहीं ज्ञात होती है।

'पार्वती मंगल'

तीसरी रचना जिसकी तिथि स्वतः कवि की दी हुई है, 'पार्वती मंगल' है। इस में (छंद ५) कहा गया है:

जय संबत फागुन सुदि पाँचइ गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु छिनु ॥

आशय प्रकट है। जय संवत् गोस्वामी जी के जीवन-काल में केवल एक बार उपस्थित होता है—सं० १६४२ में। किंतु सं०१६४२ की फाल्गुन शु० ५ रविवार को पड़ती है, गुरुवार को नहीं; सं० १६४३ में अवश्य फाल्गुन शुक्ला ५ गुरुवार को पड़ती है। प्रश्न यह है कि इस अंतर का समाधान किस प्रकार किया जा सकता है।

जय संवत् चांद्रवर्ष सं०१६४२ में प्रारंभ हुआ था और चांद्रवर्ष सं०१६४३ में समाप्त हुआ था। सं०१६४३ की फाल्गुन शुक्ला ५ यद्यपि जय वर्ष के बाहर पड़ती है, किंतु हो सकता है कि सं०१६४३ में जय वर्ष के समाप्त होने के कारण पूरे सं०१६४३ को गोस्वामी जी ने जय वर्ष मान लिया हो – ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी दिन की तिथि वह मानी जाती है जो उसमें समाप्ति पाती है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि यह समाधान बहुत संतोषजनक नहीं है।

'दोहावली' और 'कवितावली'

'दोहावली' और 'कवितावली' संग्रह ग्रंथ हैं। इनकी प्राप्त प्रतियों में रचना के अंतिम अंश के संकलन में प्रायः थोड़ा-बहुत अंतर मिलता है, जिससे ज्ञात यह होता है कि कवि इन दोनों रचनाओं क कदाचित् अंतिम रूप नहीं दे पाया था। इन दोनों में रुद्रबीसी का उल्लेख हुआ है, और जैसा ऊपर कहा जा चुका है रुद्रबीसी का समय सं० १६५६-१६७६ है। 'कवितावली' में मीन के शनि का भी उल्लेख है, जिसका समय, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सं० १६६६-७१ है। 'कवितावली' में महामारी के भी छंद हैं, जिनका समय, यदि महामारी से प्लेग या ताऊन का आशय हो, सं० १६७३ से १६८० के बीच किसी समय होना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि

दोनो में कवि की अंतिम रचनाएँ संकलित हैं, 'दोहावली' में अपेक्षा-कृत कुछ पूर्व की और 'कवितावली' में अपेक्षाकृत कुछ बाद तक की रचनाएँ संगृहीत हैं।

'बरवै'

'बरवै' की जो प्रतियाँ प्राप्त हैं, उनमें परस्पर पाठ-विषयक अंतर बहुत है। कुछ छंद तो सामान्य हैं, किंतु कुछ छंदों के स्थान पर दूसरे छंद तक मिलते हैं। इसलिए संभावना यही ज्ञात होती है कि इसका संकलन गोस्वामी जी के निरीक्षण में नहीं हुआ था। जो छंद प्रायः प्रतियों में समान रूप से पाए जाते हैं, वे रामभक्ति विषयक हैं, और इनमें से कुछ में (बरवै, ६५,६७,६८,६९) जीवनांत की आगे आती हुई प्रतिच्छाया झलकती है। इससे भी उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। किंतु ठीक पाठ-निर्धारण के पूर्व इस प्रकार का निश्चय-पूर्ण परिणाम भी निकालना बहुत उचित न होगा।

विनय पत्रिका

'विनय पत्रिका' की एक प्रति सं० १६६६ की प्राप्त हुई है, जो काशी के रामनगर के चौधरी छुन्नी सिंह के पास है। इसमें कुल १७६ पद हैं, जब कि मुद्रित पाठ में २७९ पद हैं। इन १७६ में से भी ४ पद इस समय 'गीतावली' में मिलते हैं। इन १७६ पदों का संकलन-क्रम भी प्रस्तुत से कुछ भिन्न है। इसलिए यह निश्चितरूप से ज्ञात होता है कि वह प्रस्तुत का पूर्व रूप है। यह संकलन सं० १६६६ के कुछ ही पूर्व का होना चाहिए, क्योंकि अन्यथा कुछ और प्रतियाँ भी इस पाठ की मिलनी चाहिएँ थीं। शेश पद कब रचे गए, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। किंतु यह निश्चित है कि 'विनय पत्रिका' का प्रस्तुत मुद्रित पाठ भी कवि का ही निर्धारित किया हुआ है, क्योंकि उपर्युक्त के अति-रिक्त समस्त प्रतियों का पाठ वही है जो मुद्रित में मिलता है। हो सकता है कि इन शेष पदों की रचना सं० १६६६ के बाद हुई हो।

'गीतावली'

उपर्युक्त विशेषताओं की एक खंडित प्रति 'गीतावली' की भी उपर्युक्त चौधरी साहब के पास है। खंडित होने के कारण प्रति का अंतिम पन्ना नहीं है। किंतु लिखावट से वह उसी लिपिकार की ज्ञात होती है जिसकी उपर्युक्त 'विनय पत्रिका' की प्रति है। यह पुरानी भी उतनी ही लगती है जितनी वह। और 'विनय पत्रिका' के उक्त सं० १६६६ के पाठ के वे पद जो इस समय 'गीतावली' में पाए जाते हैं, इस प्रति में नहीं पाए जाते। ऐसी दशा में यह निश्चित है कि यह प्रति भी उसी समय का पाठ देती है जिस समय का पाठ 'विनय पत्रिका' की उक्त सं० १६-६६ की प्रति देती है। यह संकलन भी जैसा हमने ऊपर 'विनय पत्रिका' के संबंध में देखा है, सं० १६६६ के कुछ ही पूर्व का होना चाहिए, क्योंकि अन्यथा कुछ और प्रतयाँ इस पाठ की भी मिलनी चाहिएँ थी। 'गीतावली' मुद्रित पाठ की इस प्रति को छोड़कर सबमें समान्य मिलता है। इसलिए यह भी निश्चित है कि मुद्रित प्रतियों का पाठ कवि के जीवन-काल का ही है। हो सकता है कि मुद्रित पाठ के वे पद जो इस प्राचीन प्रति में नहीं मिलते सं० १६६६ के बाद के हों।

'कृष्ण गीतावली'

'कृष्ण गीतावली' के संबंध में इस प्रकार के कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं हैं, किंतु यह भी उपर्युक्त की भाँति पद-संग्रह है, और हो सकता है कि उपर्युक्त के आस पास ही इसकी भी पद-रचना और संकलन हुए हों। किंतु विशेष निश्चय के साथ इस संबंध में कहना कठिन है।

'जानकी मंगल'

'जानकी मंगल' राम सीता के विवाह की कथा दी हुई है। यह यह कथा 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'मानस' में भी आती है। किंतु 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'मानस' के विस्तारों में थोड़ा सा अंतर है—उदाहरण के

लिए 'मानस' में तो परशुराम राम को रंगभूमि में ही मिलते हैं, किंतु 'रामाज्ञा प्रश्न' में वे उन्हें बारात की वापिसी में मिलते हैं। 'जानकी मंगल' में भी वे 'रामाज्ञा प्रश्न' की भाँति बरात की वापिसी में मिलते हैं। किंतु अन्यथा 'जानकी मंगल' और 'मानस में बहुत निकटता है, अनेक स्थलों पर वही शब्दावली तक मिलती है। इसलिए ऐसा ज्ञात होता है कि 'जानकीमंगल' का रचना काल 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'मानस' के बीच में कहीं पड़ता है।

'नहछू' और 'वैराग्य संदीपिनी'

शेष रचनाएँ 'नहछू' और 'वैराग्य संदीपिनी' हैं, जिनके विषय में ऊपर कहा जा चुका है कि या तो वे गोस्वामी जी की हैं ही नहीं, और या तो उनके कवि-जीवन के प्रारंभ की हैं।

७—तुलसी-पूर्व का राम-साहित्य

तुलसी-पूर्व का राम-साहित्य इतना विस्तृत है कि अत्यंत संक्षिप्त रूप में ही उसका उल्लेख यहाँ सभंव है।

वैदिक साहित्य

प्रायः यह समझा जाता है कि वेदों में और वैदिक साहित्य में राम-कथा मिलती है। यह धारणा कहाँ तक ठीक है इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

वैदिक साहित्य में एक राम का नाम कुछ प्रतापी असुर राजाओं के नामों के साथ आया है, किन्तु 'रामायण' की ज्ञात कथा का कोई प्रसंग वहाँ नहीं है। एक राम मार्गवेय का उल्लेख मिलता है, जो ब्राह्मण हैं। एक राम औपतस्विनि का उल्लेख मिलता है, जो आचार्य हैं। इसी प्रकार, एक राम क्रतुजातेय का उल्लेख मिलता है जो आचार्य हैं।

वैदिक साहित्य में 'सीता' शब्द का प्रयोग साधारणतः 'हल से बनी हुई रेखा' के लिए हुआ है। किंतु एक 'सीता' कृषि की अधिष्ठात्री देवी की है—दैवीकरण की प्रवृत्ति 'सीता' के इस अर्थ में प्रकट है। एक अन्य सीता सूर्य की पुत्री हैं, किंतु उनके साथ भी 'रामायण' की ज्ञात कथा का कोई प्रसंग नहीं आया है।

रामकथा के कुछ अन्य पात्रों के नाम भी वैदिक साहित्य में मिलते हैं। 'दशरथ' का नाम एक योद्धा राजा के रूप में मिलता हैं; इसी प्रकार अश्वपति कैकेय, और जनक वैदेह का उल्लेख विद्वान् राजाओं के रूप में हुआ है।

इससे ज्ञात होगा कि यद्यपि राम-कथा के पात्रों के नाम वैदिक साहित्य में मिल जाते हैं, किंतु राम-कथा कहीं भी नहीं मिलती। इसलिए प्रायः विद्वानों का यह मत है कि वैदिक ऋषियों को राम-कथा अज्ञात थी। यद्यपि किसी वस्तु की अनुपस्थिति उसके अनस्तित्व का प्रमाण नहीं हो सकती, किंतु ऐसा अनुमान करना कदाचित् अनुचित न होगा कि यदि वैदिक ऋषियों को राम और भरत के अतुलनीय उदार चरित्रों का परिचय होता, तो वे अवश्य इनका उल्लेख कहीं-न-कहीं करते।

वाल्मीकीय 'रामायण' और 'महाभारत

वैदिक साहित्य के अनंतर राम-कथा वाल्मीकीय 'रामायण' (ईसा पूर्व २००?) में ही मिलती है। यद्यपि इस ग्रंथ के पश्चिमोत्तरीय, गौड़ीय और दाक्षिणात्य—तीन पाठ हैं, किंतु कथावस्तु की दृष्टि से तीनों में अंतर बहुत कम है। ऐसा माना गया है कि प्रारंभ में रामकथा की परंपरा मौखिक थी, लिखित नहीं, और इसी परंपरा से उपर्युक्त तीन विभिन्न पाठों की परंपराओं का विकास हुआ। किंतु यह निश्चित है कि जिस सामान्य मौखिक परंपरा से उपर्युक्त तीनों पाठों का विकास हुआ, वह बड़ी ही पूर्ण रही होगी, अन्यथा इतना कम अंतर तीनों में न पाया जाता। प्रस्तुत तीनों पाठों में जो बालकांड और उत्तरकांड पाए जाते हैं, विद्वानों का कहना है कि वे उस सामान्य परंपरा में नहीं थे, बाद में जोड़े गए। उनका यह निष्कर्ष 'रामायण' के शेष अंशों की शैली, और विचार-धारा आदि के साथ इन कांडों की शैली, और विचार-धारा आदि के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित है। राम के अवतारवाद के स्थल प्रायः इन्हीं कांडों में पाए जाते हैं।

'महाभारत' (ईसा पूर्व २०० से ईस्वी २००?) में राम और राम-कथा के उल्लेख अनेक स्थलों पर आए हैं, जिनमें से सबसे प्रमुख

रामोपाख्यान है। इस रामोपाख्यान की राम-कथा के कुछ स्थल ऐसे हैं जो वाल्मीकीय 'रामायण' की सहायता के बिना स्पष्ट नहीं होते हैं। इसलिए विद्वानों का अनुमान है कि इसका आधार 'रामायण' ही है।

जातक-साहित्य

बौद्ध जातक ग्रंथों (तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व ?) में भी रामकथा के कुछ प्रसंग आए हैं। इनमें सब से प्रमुख दशरथ जातक है। इसमें मुख्यतः सीताहरण और राक्षसों के साथ राम के संघर्ष की कथा को छोड़ कर शेष सारी मूल रामकथा है। इसके अनुसार वाराणसी के महाराजा दशरथ की तीन संतानें हैं: राम लक्ष्मण, और सीता। इनकी माता के देहांत के अनंतर वे एक और विवाह करते हैं, इससे भरत उत्पन्न होते हैं। विमाता राज्य अपने पुत्र भरत के लिए चाहती है, इसलिए राम और लक्ष्मण के अनिष्ट की आशंका से दशरथ उन्हें यह कहकर वन भेज देते हैं कि बारह वर्ष उनकी आयु के शेष हैं; ये बारह वर्ष वे वन में व्यतीत करें और उनके देहावसान के अनंतर आकर राज्य पर अधिकार कर लेवें। राम-लक्ष्मण को वन जाते देख कर सीता भी उनके साथ जाती हैं। दशरथ पुत्रशोक से नौ वर्षों के अनंतर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। भरत को राज्य दिया जाता है, किंतु वे उसे स्वीकार नहीं करते हैं, और राम को लाने के लिए बन जाते हैं, जो हिमालय प्रदेश में स्थित है। राम स्वतः न जाकर भरत को अपनी तृणपादुकाएँ देते हैं। इन्हें लेकर भरत लौट आते हैं। तीन वर्ष बाद राम लौटते हैं, और सीता से विवाह करके राज्य करते हैं।

किंतु इस जातक की कथा के संबंध में यह जान लेना चाहिए कि प्राचीन अंश, जो कि गाथाओं के रूप में है, केवल दशरथ के निधन के समाचार पाकर राम के अविचलित रहने और भाइयों को

सांत्वना और उपदेश देने से संबंध रखता है। शेष कथा उनकी गद्य टीकाओं में मिलती है, जो किंचित पीछे की हैं।

कुछ अन्य जातकों की गाथाओं में निर्वासित राम-सीता दण्डकारण्य में जाते हैं, और सीता राम की बहिन नहीं स्त्री हैं।

एक अन्य राम कथा 'अनामक जातक' में है, जिसका तीसरी शताब्दी ईस्वी का अनुवाद मात्र प्राप्त है। इसमें प्रायः पूरी रामकथा है, यद्यपि इसमें किसी पात्र का नाम नहीं दिया हुआ है। मुख्य अंतर यह है कि इसमें भरत की कथा नहीं आती। उसके स्थान पर कहा गया है कि मामा के आक्रमण से भयभीत होकर राजा वन चला जाता है, और पुनः अपने मामा के देहांत के अनंतर लौटता है। रावण के स्थान पर एक नाग है।

पहले कुछ विद्वानों का यह विचार था कि मूल रामकथा उतनी ही और प्रायः वैसी ही थी, जितनी और जैसी दशरथ जातक में दी हुई है। किंतु साधारणतः अब यह विचार मान्य नहीं है। अब प्रायः विद्वान वाल्मीकि और जातक की कथाओं का एक सामान्य उद्गम प्राचीनतर रामकथा की मौखिक परंपरा को मानते हैं।

जैन साहित्य

जैन साहित्य का सबसे प्राचीन रामकथा ग्रंथ तीसरी शताब्दी का विमल सूरि का 'पउमचरिउ' अर्थात् 'पद्मचरित' है। इसमें वाल्मीकि की ही कथा है। मुख्य अंतर यह है कि इसमें रावण के साथ संघर्ष का प्रारंभ लक्ष्मण के शूर्पणखा के नाक-कान काटने पर नहीं, वरन् खर-दूषण के पुत्र शंबूक का शिर काटने पर होता है। पुनः इसमें लक्ष्मण ही रावण का वध करते हैं।

जैन साहित्य में एक भिन्न परंपरा की रामकथा गुणभद्र कृत 'उत्तर पुराण' (नवीं शताब्दी) में मिलती है, जिसकी रचना

कीय रामायण' का ही आश्रय प्रायः लिया गया है—केवल जहाँ-तहाँ अपनी-अपनी रुचि के अनुसार साधारण अंतर किया गया है।

नाटक ग्रंथ

रामकथा को लेकर नाटक-रचना भी यथेष्ट परिमाण में हुई है। नाटक-रचयिताओं ने भी यद्यपि प्रमुख रूप से वाल्मीकि के ग्रंथ का आश्रय लिया है, किंतु काव्यकारों की अपेक्षा कथा में नाटकीय उत्कर्ष की दृष्टि से जहाँ-तहाँ अधिक अंतर किए हैं। यह नाटक-माला भास से प्रारंभ होती है, जिनके रचित कहे गए 'प्रतिमा' नाटक में ननिहाल से लौटने पर भरत प्रतिमा-गृह में दशरथ की मूर्ति देख कर अपने पिता की मृत्यु समझते हैं। उनके 'अभिषेक' नाटक में अपेक्षाकृत और भी कम कम अंतर वाल्मीकि की कथा से है। भास के समय के बारे में और इन नाटकों के भास कृत होने के बारे में बहुत मतभेद है अन्यथा भास कालिदास से भी प्राचीन नाटककार माने जाते हैं। भवभूति कृत 'महावीर चरित' और 'उत्तर रामचरित' (आठवीं शताब्दी) में भी प्रायः वाल्मीकि की कथा का अनुसरण किया गया है। दिङ्नाग कृत 'कुंदमाला' (९०० ई० ?), मुरारि कृत 'अनर्घराघव' (९०० ई०?) राजशेखर कृत 'बाल रामायण' (दसवीं शताब्दी), हनुमान कृत 'महा नाटक' (दसवीं शताब्दी ?) तथा जयदेव कृत 'प्रसन्न राघव' (१३वीं शताब्दी) अन्य प्रमुख नाटक हैं। इनमें से कई में राम के पूर्वानुराग, स्वयंवर सभा, और उसमें धनुर्भंग के अनंतर परशुराम के आगमन के दृश्य उपस्थित किए गए हैं। अन्यथा जैसा ऊपर कहा गया है, सामान्य रूप से कथावस्तु वाल्मीकि कृत 'रामायण' का अनुसरण करती है।

अन्य रामकथाएँ

रामकथा यद्यपि मध्यदेश की ही वस्तु रही है, किंतु अत्यंत उच्च नैतिक स्तर के कारण मध्यदेश के बाहर भी बहुत प्राचीन काल से प्रचलित ज्ञात होती है। द्रविड़ देशों, सिंहल, काश्मीर, तिब्बत,

कीय रामायण' का ही आश्रय प्रायः लिया गया है—केवल जहाँ-तहाँ अपनी-अपनी रुचि के अनुसार साधारण अंतर किया गया है।

नाटक ग्रंथ

रामकथा को लेकर नाटक-रचना भी यथेष्ट परिमाण में हुई है। नाटक-रचयिताओं ने भी यद्यपि प्रमुख रूप से वाल्मीकि के ग्रंथ का आश्रय लिया है, किंतु काव्यकारों की अपेक्षा कथा में नाटकीय उत्कर्ष की दृष्टि से जहाँ-तहाँ अधिक अंतर किए हैं। यह नाटक-माला भास से प्रारंभ होती है, जिनके रचित कहे गए 'प्रतिमा' नाटक में ननिहाल से लौटने पर भरत प्रतिमा-गृह में दशरथ की मूर्ति देख कर अपने पिता की मृत्यु समझते हैं। उनके 'अभिषेक' नाटक में अपेक्षाकृत और भी कम कम अंतर वाल्मीकि की कथा से है। भास के समय के बारे में और इन नाटकों के भास कृत होने के बारे में बहुत मतभेद है अन्यथा भास कालिदास से भी प्राचीन नाटककार माने जाते हैं। भवभूति कृत 'महावीर चरित' और 'उत्तर रामचरित' (आठवीं शताब्दी) में भी प्रायः वाल्मीकि की कथा का अनुसरण किया गया है। दिङ्नाग कृत 'कुंदमाला' (९०० ई० ?), मुरारि कृत 'अनर्घराघव' (९०० ई०?) राजशेखर कृत 'बाल रामायण' (दसवीं शताब्दी), हनुमान कृत 'महा नाटक' (दसवीं शताब्दी ?) तथा जयदेव कृत 'प्रसन्न राघव' (१३वीं शताब्दी) अन्य प्रमुख नाटक हैं। इनमें से कई में राम के पूर्वानुराग, स्वयंवर सभा, और उसमें धनुर्भंग के अनंतर परशुराम के आगमन के दृश्य उपस्थित किए गए हैं। अन्यथा जैसा ऊपर कहा गया है, सामान्य रूप से कथावस्तु वाल्मीकि कृत 'रामायण' का अनुसरण करती है।

अन्य रामकथाएँ

रामकथा यद्यपि मध्यदेश की ही वस्तु रही है, किंतु अत्यंत उच्च नैतिक स्तर के कारण मध्यदेश के बाहर भी बहुत प्राचीन काल से प्रचलित ज्ञात होती है। द्रविड़ देशों, सिंहल, काश्मीर, तिब्बत,

खोतान, जावा, बाली, मलय, हिंदचीन, श्याम, ब्रह्मदेश, और चीन तक में रामकथाएँ पाई जाती हैं। इन कथाओं की प्रायः प्राचीन कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं, इसलिये सामान्यतः ऐसा समझा जाता है कि वाल्मीकीय 'रामायण' की कथा का ही विकास इन रामायणों में भी यद्यपि किंचित विकृत रूपों में दिखाई पड़ता है। किंतु यह धारणा ठीक नहीं ज्ञात होती है। वाल्मीकीय 'रामायण' का आधार लेने पर कथा का विकास इतने भिन्न रूपों में न हुआ होता जितने भिन्न रूप रामकथा के इन देशों के रामायणों में दिखाई पड़ते हैं। संभावना इस बात की विशेष ज्ञात होती है कि इनमें से अनेक देशों में रामकथा उसी समय फैल गई थी जिस समय उसकी मौखिक परंपरा मात्र थी, और वह लिपिबद्ध नहीं हुई थी; कदाचित् अनुश्रुतियों का अवलंब लेते हुए फैलने के कारण ही उक्त मौखिक रामकथा के इतने विभिन्न-रूप हो गए। अपने देश के अनेक रामायणों की रचना में भी वाल्मीकि की कृति के अतिरिक्त यदि अंशतः इस प्रकार की स्थानीय मौखिक अनुश्रुतियों का भी अवलंब लिया गया हो तो कुछ आश्चर्य नहीं।

गोस्वामी जी का परिचय उपर्युक्त में से केवल संस्कृत के राम-साहित्य से रहा होगा, किसी अन्य भाषा के राम-साहित्य से उनके परिचय के कोई प्रमाण नहीं मिले हैं। किंतु संस्कृत के उपर्युक्त राम-साहित्य के साथ उनका घनिष्ट परिचय प्रमाणित होता है।

८—मौलिकता

ऊपर जिन रचनाओं का उल्लेख किया गया है, उनमें से अनेक रचनाओं से भाव-साम्य और कभी कभी शब्द-साम्य भी गोस्वामी जी की रचनाओं में और विशेष रूप से 'राम चरित मानस' में मिलते हैं। 'राम चरित मानस' में उन्होंने स्वतः कहा है :

नानापुराण निगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंधमति मञ्जुल मातनोति॥

इसलिए यह प्रकट है कि उन्होंने रामकथा के जो भी उद्गम उन्हें प्राप्त थे, उनका उपयोग निस्संकोच होकर किया है।

ऊपर हम देख चुके हैं कि वेदों में रामकथा नहीं मिलती, और न वैदिक साहित्य में ही मिलती है, फिर भी गोस्वामी जी ने स्थान-स्थान पर इस प्रकार के उल्लेख किये हैं। इन उल्लेखों में कदाचित् गोस्वामी जी का संकेत 'रामतापनी' उपनिषदों की ओर है, जिनमें रामभक्ति का प्रतिपादन हुआ है। यह उपनिषद् आधुनिक विद्वानों के अनुसार प्राचीन नहीं हैं, किंतु गोस्वामी जी की श्रद्धा इस पर अन्य उपनिषदों के समान ही रही हो, तो आश्चर्य नहीं। दर्शनों का अध्ययन, विशेष रूप से वेदांत और भक्ति दर्शनों का, उनकी रचनाओं से अवश्य प्रकट होता है।

पुराणों का तो न केवल अध्ययन वरन् उनका उपयोग भी 'राम चरित मानस' में दिखाई पड़ता है। बालकांड में दिया हुआ शिव चरित 'शिवपुराण' के आधार पर कहा गया है, नारद चरित भी उसी पर आधारित है; मनु-सतरूपा चरित कदाचित् 'पद्म पुराण' के अनुसार रक्खा गया है। राम-लक्ष्मण के रंगभूमि में अवतरण का

वर्णन करते हुए उल्लेख अलंकार के रूप में जिन उक्तियों की सहायता ली गई है, वे थोड़े से अंतर के साथ 'श्रीमद्भावगत' के इसी प्रकार के कृष्ण के कंस की रंगभूमि में अवतरण-प्रसंग में मिलती हैं; किष्किंधा-कांड में आए हुए वर्षा और शरद् के वर्णन भी 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कंध में आए हुए वर्षा और शरद् के वर्णनों के अनुरूप हैं, और बहुत कुछ उनकी सहायता से किये गए हैं; अपने भक्ति-विषयक सिद्धांतों में भी गोस्वामी जी ने 'श्री मद्भागवत' का बहुत-कुछ आधार ग्रहण किया है; कुछ अन्य पुराणों से भी स्फुट सामग्री उन्होंने ली हैं।

गोस्वामी जी ने अनेक राम-कथाओं के सनाम उल्लेख किए हैं : वाल्मीकि कृत 'रामायण' का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा ही है :

बंदौं मुनि पद कंज रामायन जेहिं निरमएउ।
सखर सुकोमल मंजु दोषरहित दूषन सहित ॥ (बाल० १४)

किंतु इसके अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न स्थलों पर रामकथा-परंपरा के निम्नलिखित उल्लेख किए हैं :

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा।
तेहिसन जाग बलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।
(बाल० ३०)

एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं।...
रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी।
(बाल० ४८)

सुन सुभ कथा भवानि राम चरित मानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़ ॥
(बाल० १२०)

मैं जिमि कथा सुनी भवमोचिन। सो प्रसंग सुनु सुमुखि सुलोचनि।
तहँ बसि हरिहि भजै जिमि कागा। सो सुनु उमासहित अनुरागा।

तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुननि पुनि आएउँ कैलास॥
(उत्तर० ५७)

मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस तब भाखा।
(उत्तर० ११३)

इन पंक्तियों से रामकथा के निम्नलिखित विभिन्न वक्ताश्रोता हमारे सामने आते हैं:

(१) शिव-पार्वती, (२) शिव-कागभुशुंडि, (३) कागभुशुंडि-याज्ञवल्क्य, (४) याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, (५) कुंभज-शिव, (६) कागभुशुंडि-गरुड़, (७) कागभुशुंडि-शिव, (८) लोमस-शिव।

इनमें से शिव-पार्वती संवाद के रूप में 'अध्यात्म रामायण' है, कागभुशुंडि-गरुड़ संवाद के रूप में 'भुशुंडि रामायण' है, और लोमस द्वारा कही हुई 'लोमस रामायण' प्राप्त बताई गई हैं। शेष परंपराओं की रामायणों में से कुछ के उल्लेख मात्र मिलते हैं। इनमें से अधिकतर के संभव है गोस्वामी जी को भी उल्लेख-मात्र प्राप्त हुए हों, उनके रामायण न मिले हों। किंतु उपयोग उन्होंने अधिकांश में 'अध्यात्म रामायण', वाल्मीकीय 'रामायण' और 'मानस' के उत्तरकांड में कदाचित् 'भुशुंडि रामायण' का किया है। 'अध्यात्म रामायण' को तो गोस्वामी जी 'मानस' में प्रायः आधार के रूप में लेकर चले हैं। यदि दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जावे, तो ज्ञात होगा कि 'मानस' में पूरे प्रसंग के प्रसंग 'अध्यात्म रामायण' के छायानुवाद या संक्षेप हैं। इस प्रकार की सहायता गोस्वामी जी ने वाल्मीकि कृत 'रामायण' से नहीं ली है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त गोस्वामी जी के अन्य प्रमुख सहायक ग्रंथ 'महानाटक' या 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्न राघव नाटक' हैं। 'मानस' के बालकांड का पुष्पवाटिका-विहार प्रसंग 'प्रसन्नराघव' के अनुसार है,

तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुननि पुनि आएउँ कैलास ॥
(उत्तर० ५७)

मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा। रामचरित मानस तब भाखा।
(उत्तर० ११३)

इन पंक्तियों से रामकथा के निम्नलिखित विभिन्न वक्ताश्रोता हमारे सामने आते हैं :

(१) शिव-पार्वती, (२) शिव-कागभुशुंडि, (३) कागभुशुंडि-याज्ञवल्क्य, (४) याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, (५) कुंभज-शिव, (६) कागभुशुंडि-गरुड़, (७) कागभुशुंडि-शिव, (८) लोमस-शिव।

इनमें से शिव-पार्वती संवाद के रूप में 'अध्यात्म रामायण' है, कागभुशुंडि-गरुड़ संवाद के रूप में 'भुशुंडि रामायण' है, और लोमस द्वारा कही हुई 'लोमस रामायण' प्राप्त बताई गई हैं। शेष परंपराओं की रामायणों में से कुछ के उल्लेख मात्र मिलते हैं। इनमें से अधिकतर के संभव है गोस्वामी जी को भी उल्लेख-मात्र प्राप्त हुए हों, उनके रामायण न मिले हों। किंतु उपयोग उन्होंने अधिकांश में 'अध्यात्म रामायण', वाल्मीकीय 'रामायण' और 'मानस' के उत्तरकांड में कदाचित् 'भुशुंडि रामायण' का किया है। 'अध्यात्म रामायण' को तो गोस्वामी जी 'मानस' में प्रायः आधार के रूप में लेकर चले हैं। यदि दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जावे, तो ज्ञात होगा कि 'मानस' में पूरे प्रसंग के प्रसंग 'अध्यात्म रामायण' के छायानुवाद या संक्षेप हैं। इस प्रकार की सहायता गोस्वामी जी ने वाल्मीकि कृत 'रामायण' से नहीं ली है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त गोस्वामी जी के अन्य प्रमुख सहायक ग्रंथ 'महानाटक' या 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्न राघव नाटक' हैं। 'मानस' के बालकांड का पुष्पवाटिका-विहार प्रसंग 'प्रसन्नराघव' के अनुसार है,

स्वयंवर प्रसंग 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' के अनुसार है, इसी प्रकार परशुराम-आगमन प्रसंग भी 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' के अनुसार है, सुंदरकांड के रावण-सीता संवाद और हनुमान-सीता संवाद 'प्रसन्नराघव' के अनुसार हैं, लंकाकांड का अंगद-रावण संवाद 'हनुमन्नाटक' के अनुसार है। और भी कुछ प्रसंग इन नाटकों की सहायता से लिखे गए हैं, और उक्तियाँ तो अनेक स्थलों पर इन नाटकों से ली गई हैं।

इनके अतिरिक्त भी अनेकानेक ग्रंथों आदि के अपने अध्ययन का उपयोग गोस्वामी जी ने किया है। वास्तव में गोस्वामी जी का इतना विस्तृत अध्ययन देख कर चमत्कृत रह जाना पड़ता है। गोस्वामी जी के पुरानी परिपाटी का समालोचक उनकी उस विशेषता पर—जिसे वह मधु-संचय कहता है—प्रायः मुग्ध है। किंतु नई परिपाटी का समालकोचक इसको विशेष महत्व नहीं देता है; वह तो कवि के मौलिक योग को ठीक ठीक समझना चाहता है। प्रश्न यह है कि ठीक दृष्टिकोण क्या है।

यह हम देख चुके हैं कि गोस्वामी जी के सामने एक विशाल और समृद्ध राम-साहित्य था। उस राम-साहित्य में जो कथा आई है, उसका मुख्यांश प्रायः सर्वत्र एक ही रूप में मिलता है। गोस्वामी जी को कदाचित् ही यह ज्ञात रहा होगा कि आर्यावर्त के बाहर भी रामकथा का प्रचार रहा है, और वहाँ भी रामकथा का मुख्यांश लगभग वही है जो उनकी रामकथा में है। ऐसी दशा में किसी भी कवि या कलाकार के लिए यह लगभग असंभव था कि मुख्य कथा में वह कोई विशेष परिवर्तन करे। विभिन्न देश-काल के बातावरण में पोषित यह रामकथा प्रायः एक ही रूप में बनी रही है, इसका कुछ रहस्य होना चाहिए। रामावतार और रामकथा एक दैवी सत्य है, इस प्रकार की भावना अन्य देशों और धर्मों के वातावरण में नहीं हो सकती; इस प्रकार

की भावना एक सीमित देश-काल की ही वस्तु है। फिर भी रामकथा सर्वत्र लगभग वही रही है। इसका कारण यह है कि मुख्य रामकथा पूर्णतः या अंशतः भी है संभव ऐतिहासिक सत्य न हो, किंतु वह जिस रूप में पहले पहल अवतरित हुई, उससे कुछ विशेष सुंदर और भव्य कदाचित् उसको बनाया नहीं जा सकता था।

रामकथा भारतीय संस्कृति का निकटतम परिचय है। हमारी संस्कृति में आदि काल से सत्य, अहिंसा, धैर्य, क्षमा, अनासक्ति, इंद्रिय निग्रह, शुचिता, निष्कपटता, त्याग, निर्वैरता, उदारता आदि के जो तत्व प्रमुख रहे हैं, जिनके कारण ही हमारी संस्कृति संसार की समस्त संस्कृतियों में सर्वोपरि रही है, उन सब का जैसा समाहार रामकथा दिखाई पड़ता है, वैसा अन्य किसी कथा में नहीं। आर्यावर्त के बाहर भी प्राचीन काल से जो रामकथा का प्रचार रहा है, वह हमारी इसी दिव्य संस्कृति की विजय का प्रतीक है।

तुलसीदास की विशेषता यह है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति के इन्हीं तत्वों को पूर्णरूप से आत्मसात् करके अपनी रामकथा को और भी उज्ज्वल बनाया है। उनकी सबसे बड़ी मौलिकता, और उनका सबसे बड़ा योग इसी बात में है।

६—चरित्र-चित्रण

तुलसीदास के उपर्युक्त प्रकार के योग को समझने के लिए सबसे अधिक आवश्यकता उनके चरित्र-चित्रण की सामान्य प्रवृत्तियों को समझने की है। तुलसीदास के पूर्व राम-कथा के चरित्रों का सब से अधिक विकास 'वाल्मीकीय' और 'अध्यात्म' रामायणों में दिखाई पड़ता है। इन रामायणों में कथा के आदर्श पात्रों का चित्रण अत्यंत समीचीन ढंग पर हुआ है। फिर भी कहीं कहीं कुछ बातें उक्त चरित्रों में ऐसी मिलती हैं, जो भारतीय आदर्शों के अनुकूल नहीं पड़तीं। नीचे 'अध्यात्म रामायण' के कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जावेगी।

१—'अध्यात्म रामायण' में असत्य स्पर्श से बचते हुए राम को रोक रखने के लिए दशरथ कहते हैं, "हे राम, तुम मुझ स्त्री परवश, भ्रांतचित्त, कुमार्गगामी, पापात्मा को बाँध कर राज्य ले लो। इस से तुम्हें कोई पाप न लगेगा, और ऐसा होने से मुझे भी असत्य स्पर्श न करेगा।" (२. ३. ६९-७०)

२—इसी प्रकरण में लक्ष्मण राम से कहते हैं, "मैं उन्मत्त भ्रांत-चित, और कैकेयी के वशवर्त्ती राजा दशरथ को बाँध कर भरत को उनके सहायक मामा आदि के सहित मार डालूँगा, और अभिषेक में विघ्न उपस्थित करने वालों का हाथ में धनुष-बाण लेकर प्राणांत कर डालूँगा"। (२. ४. १६-१७)

३—भरत वसिष्ठ से कहते हैं, "मैं अपनी नाम मात्र की माता कैकेयी का तत्काल वध कर डालता, यदि मुझे यह भय न होता कि राम मातृवध के लिए मुझे क्षमा न करेंगे।" (२. ८. ७-८)

४—कौशल्या राम से कहती हैं, "हे राम! जिस प्रकार पिता

तुम्हारे गुरु हैं, उसी प्रकार मैं भी तो उनसे अधिक तुम्हारी गुरु हूँ ! यदि पिता ने तुम से वन जाने के लिए कहा है, तो मैं तुम्हें रोकती हूँ। यदि तुम मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर वन चले जाओगे, तो मैं अपने जीवन का अंत कर यमपुर को चली जाऊँगी।" (२. ४. १२-१३)

५ - लक्ष्मण राम से कहते हैं, "हे राम ! अब मैं आप की सेवा करने के लिए आप के पीछे-पीछे चलूँगा, आप इस के लिए आज्ञा दीजिए। हे प्रभो आप मुझ पर कृपा कीजिए, नहीं तो मैं प्राण छोड़ दूँगा।" (२. ४. ५१-५२)

६—सीता राम से कहती हैं, "मैं आप की पूर्णतया सहायिका हो कर अवश्य आप के साथ चलूँगी। यदि आप मुझे छोड़ कर चले जायँगे, तो मैं अभी आप के सामने ही अपने प्राण छोड़ दूँगी।" (८. ४. ७६)

७—गुह राम से कहता है, "हे राजेन्द्र ! मैं भी आप के साथ ही चलूँगा। आप मुझे आज्ञा दीजिए, नहीं तो मैं प्राण छोड़ दूँगा।" (२. ६. २४)

८—भरत कैकेयी से कहते हैं, "अरी पापे ! तेरे गर्भ से उत्पन्न होने के कारण अब तो मैं भी प्रत्यक्ष महापापी हूँ। मैं या तो अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा, या विष खा लूँगा, अथवा खड्ग से आत्मघात करके यमलोक को चला जाऊँगा।" (२. ७. ८१)

९—भरत राम से कहते हैं, "हे सुव्रत ! मुझे आज्ञा दीजिए, जिससे मैं भी वन में आकर लक्ष्मण के समान ही आपकी सेवा करूँ; नहीं तो मैं अन्न-जल छोड़कर इस शरीर को त्याग दूंगा।" अपना ऐसा निश्चय प्रकट कर और मन में भी यही ठानकर वे धूप में कुश बिछाकर पूर्व की ओर मुँह करके बैठ जाते हैं। (२. ९. ३९)

१०—पुनः भरत राम से कहते हैं, "हे राम ! यदि चौदह वर्ष के

व्यतीत होने पर आप पहले ही दिन अयोध्या न पहुँचेंगे, तो मैं महान् अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा।" (२. ७. ५२)

११—राम को विपत्ति में समझ कर सीता लक्ष्मण से कहती हैं, "हे लक्ष्मण ! क्या तू अपने भाई को विपत्तिमें पड़े देखना चाहता है ? अरे दुर्बुद्धि ! ज्ञात होता है कि तुझे राम का नाश चाहने वाले भरत ने ही भेजा है। क्या तू राम के नष्ट हो जाने पर मुझे ले जाने के लिए ही आया है ? किंतु तू मुझे पा न सकेगा। देख मैं अभी प्राण त्याग किए देती हूँ।" (३. ७. ३२-३३)

वाल्मीकीय "रामायण" में भी इन इन प्रसंगों में कथा के उपर्युक्त पात्रों ने प्रायः इसी प्रकार के वाक्य कहे हैं, 'अध्यात्म रामायण' से अंतर प्रायः शाब्दिक ही है, इसलिए वाल्मीकीय 'रामायण' से उद्धरण देना अनावश्यक होगा। इन प्रसंगों में 'राम चरित मानस' के पात्र किस प्रकार का आचरण करते हैं, यह अवश्य दर्शनीय है:

१—'मानस' में राम को रोकने के लिए दशरथ जो कुछ करते हैं, वह इस प्रकार है:

> रामहिं चितइ रहेउ नरनाहू। चला बिलोचन बारि प्रवाहू।
> सोक बिबस कछु कहइ न पारा। हृदयँ लगावत बारहिंबारा।
> बिधिहि मनाव राउ मन माहीं। जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं।
> सुमिरि महेसहिं कहइ निहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी।
> आसुतोष तुम्ह अवढर दानी। आरति हरहु दीन जनु जानी।
>
> तुम्ह प्रेरक सबके हृदयँ सो मति रामहि देहु।
> बचनु मोर तजि रहहिं घर परिहरि सील सनेहु ॥
>
> अजसु होउ जग सुजस नसाऊ। नरक परौं बरु सुरपुर जाऊ।
> सब दुख दुसह सहावउ मोहीं। लोचन ओट रामु जनि होहीं।
> अस मन गुनइ राउ नहिं बोला। पीपर पात सरिस मन डोला।

(अयोध्या० ४५

२—'मानस' के लक्ष्मण ने 'अध्यात्म' के लक्ष्मण की भाँति कोई बात सोची भी नहीं है; वे तो केवल इस बात के लिए चिंतित हैं कि कहीं मुझे राम घर पर ही न छोड़ दें:

समाचार जब लछिमन पाए। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए।
कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा।
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीनु दीनु जनु जलतें काढ़े।
सोचु हृदयँ बिधि का होनिहारा। सब सुख सुकृत सिरान हमारा।
मो कहुँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहि भवन कि लैहहिं साथा।
(अयोध्या० ७०)

३—'मानस' में भरत इस प्रसंग में इस प्रकार कहते हैं:

लखन राम सिय कहुँ बन दीन्हा। पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा।
लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहिं सोकु संतापू।
दीन्ह मोहि सुखु सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू।
येहितें मोर काह अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका।
कैकै जठर जनमि जग माहीं। येह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीं।
कैकै सुअन जोग जगु जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई।
(अयोध्या० १८१)

४—'मानस' की कौशल्या ने उक्त प्रसंग में जो किया है वह इस प्रकार है:

धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छुछूँदरि केरी।
बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। राम भरतु दोउ सुत सम जानी।
सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धरि धरि भारी।
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयेसु सब धरमक टीका।

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेस।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेस ॥

जौं केवल पितु आयेसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।

(अयोध्या० ५६)

५—'मानस' के लक्ष्मण साथ चलने का आग्रह इस प्रकार करते हैं :

उतर न आवत प्रेमबस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह त जहुत काह बसाइ॥

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू।
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी।
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही।
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई।

(अयोध्या० ७८)

६—उक्त प्रसंग में 'मानस' की सीता के वचन सुनिए :

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी।
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल स्रम हरिहौं।
पायँ पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहौं बाउ मुदित मन माहीं।
स्रम कन सहित स्याम तनु देखें। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें।
सम महि तृन तरु पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी।
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि ताति बयारि न मोही।
को प्रभु सँग मोहि चितवनि हारा। सिंघ बधुहि जिमि ससक सियारा।
मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तपु मो कहुँ भोगू।

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

(अयोध्या० ६७)

७—गुह की बिदाई के विषय में 'मानस' में केवल इतना आता है :

तब रघुबीर अनेक बिधि सखहि सिखावनु दीन्ह ।
राम रजायेसु सीस धरि भवन गवनु तेहिं कीन्ह ॥

(अयोध्या० १११)

८—'मानस' के भरत अपनी माता से इस प्रकार कहते हैं :

जौं पै कुरुचि रही अति तोही । जनमत काहे न मारे मोही ।
पेड़ काटि तैं पालव सींचा । मीन जिअन हित बारि उलीचा ।
हंसबंस दसरथु जनकु राम लखन से भाइ ।
जननी तूँ जननी भई बिधिसन कछु न बसाइ ॥
जब तैं कुमति कुमत जिअँ ठएऊ । खंड खंड होइ हृदउ न गएऊ ।
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा । गरी न जीह मुँह परेउ न कीरा ।
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही । मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही ।
बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी । सकल कपट अघ अवगुन खानी ।
सरल सुसील धरमरत राऊ । सो किमि जानइ तीय सुभाऊ ।
अस को जीव जंतु जग माहीं । जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं ।
भे अति अहित रामु तेउ तोहीं । को तूं अहसि सत्य कहु मोहीं ।
जो हसि सो हसि मुहुँ मसि लाई । आँखि ओट उठि बैठहि जाई ।
राम बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहि ।
मो समान को पातकी बादि कहौं कछु तोहि ॥

(अयोध्या० १६२)

९—राम के वचनों पर 'मानस' के भरत की चेष्टा इस प्रकार की है :

भरतहि भएउ परम संतोषू । सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू ।
मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू । भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू ।
कीन्ह सप्रेम प्रनाम बहोरी । बोले पानि पंकरुह जोरी ।
नाथ भएउ सुखु साथ गए को । लहेउँ लाहु जग जनमु भए को ।
अब कृपाल जस आयेसु होई । करउँ सीस धरि सादर सोई ।

१०—'मानस' में भरत राम से बिना कुछ कहे इस प्रकार विदा होते हैं :

भेंटत भुज भरि भाइ भरत सो। राम प्रेम रसु कहि न परत सो।
तन मन बचन उमग अनुरागा। धीर धुरंधर धीरजु त्यागा।...
बरनत रघुबर भरत बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू।
(अयोध्या० ३१८)

११—'मानस' में सीता के उस प्रकार के कोई वचन नहीं है; केवल 'मर्म वचनों' के बोलने का उल्लेख करके शेष को पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया गया है :

मरम बचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला।
(अरण्य० २२)

उपर्युक्त प्रसंगों में तुलसीदास के पात्रों ने जो कुछ कहा है, वह स्वतः अपनी टिप्पणी कर देता है, इसलिए और अधिक कहने की आवश्यकता कदाचित् नहीं है। यहाँ पर केवल ऐसे कथन दिए गए हैं जहाँ पर पूर्ववर्ती राम-साहित्य के पात्र प्राण लेने या देने तक पर उतारू हैं—और वे भी ऐसे पात्र जो कथा के आदर्श पात्रों में से हैं। 'मानस' के पात्र, कहना नहीं होगा कि, इन समस्त स्थलों पर अपनी पात्रता के अनुरूप संयम और विवेक से कार्य करते हुए दिखाई पड़ते हैं। यही बात अन्य प्रसंगों में भी दिखाई पड़ती है। गोस्वामी जी का योग फलतः इस दिशा में प्रकट है।

१०—तुलसी के राम

इस चरित्र-विधान में गोस्वामी जी ने स्वभावतः सबसे उज्ज्वल आदर्श अपने आराध्य राम का रक्खा है। आदि कवि की रचना में भी राम का चित्र एक आदर्श मानव की भाँति चित्रित करने का यत्न किया गया है, उनमें चरित्र के वे सभी गुण हैं जिनको भारतीय संस्कृति में महत्त्व दिया गया है, केवल कुछ इने-गिने प्रसंगों में उनकी चेष्टाएं ऐसी हैं जो उनके इस आदर्श चरित्र के किंचित् न मिलती हुई ज्ञात होती हैं। संभव है कि आदि कवि और उनके अनेक परवर्तियों ने इन चेष्टाओं को चरित्र की स्वाभाविकता को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक समझा हो। किंतु 'अध्यात्म रामायण' तक आते-आते उन प्रसंगों में भी राम के चरित्र को अन्यत्र की भाँति उच्चतम धरातल पर रख दिया गया है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जावेगी।

१—आदि कवि की रचना में वनवास का दुःसंवाद सुनाने जब राम कौशल्या के पास जाते हैं, भोजन के लिए रक्खे गए आसन को लक्ष्य करके वे कहते हैं, "देवि, आप जानती नहीं हैं; आपके लिए, सीता के लिए और लक्ष्मण के लिए बड़ा भय आया है, इससे आप लोग दुःखी होंगे। अब मैं दंडकारण्य में जा रहा हूँ, इस आसन से मुझे क्या करना है? अब मेरे लिए कुशासन चाहिए, यह आसन नहीं। निर्जन वन में चौदह वर्षों तक निवास करूँगा, मांस खाना छोड़कर कंद मूल फल से जीविका चलाऊँगा। महाराज युवराज का पद भरत को देते हैं, और तपस्वी वेष में मुझे दण्डकारण्य में भेजते हैं। मैं चौदह वर्ष तक वन में रहूँगा, जंगली वस्त्र धारण करूँगा और फल मूल का आहार करूँगा।" (२. २०. २५-३१)

२—इसी प्रकार, जब वे वनवास का दुःसंवाद सुनाने सीता के पास जाते हैं, वे कहते हैं, "...इसी कारण मैं निजन वन में जाने के लिए प्रस्थित हुआ हूँ, और तुमसे मिलने के लिए यहाँ आया हूँ। तुम भरत के सामने मेरी प्रशंसा न करना। क्योंकि समृद्धिवान लोग दूसरों की स्तुति नहीं सह सकते, इसलिए भरत के सामने तुम मेरे गुणों का वर्णन न करना। भरत के आने पर उनके सामने तुम मुझे श्रेष्ठ न बतलाना; ऐसा करना भरत का प्रतिकूलाचरण कहा जायगा, और अनुकूल रह कर ही भरत के पास रहना संभव हो सकता है। परंपरागत राज्य राजा ने भरत को ही दिया है; तुमको चाहिए कि तुम उसे प्रसन्न रक्खो, क्योंकि वह राजा है।" (२. २६. २४-२७)

३—सीताहरण के अनंतर व्यथित राम लक्ष्मण से पूछते हैं, "लक्ष्मण, सीता के वियोग में मेरे मरने और तुम्हारे अयोध्या लौटने पर क्या कैकेई अपने मनोर्थ के पूर्ण होने से सुखी होगी?" (३.५८.७)

४—रावण-वध के अनंतर सीता की प्राप्ति पर राम उनसे कहते हैं, "अपने चरित्र की रक्षा करते हुए, अपवाद को दूर करते हुए तथा अपने प्रसिद्ध कुल का कलंक हटाते हुए यह युद्ध मैंने मित्रों के पराक्रम से जीता है। तुम्हारे चरित्र के विषय में संदेह का अवसर उपस्थित हुआ है, और तुम हमारे सामने खड़ी हो! आँखों के रोगी को जिस प्रकार दीपक बुरा लगता है, उसी प्रकार तुम भी मुझे बुरी लग रही हो। हे जनकपुत्रि! तुम जहाँ चाहो वहाँ जाओ, मैं तुम्हें अनुमति देता हूँ। ये दसो दिशाएँ खुली पड़ी हैं, अब मुझे तुम्हारा कोई काम नहीं है। कौन कुलीन और तेजस्वी मनुष्य दूसरे के घर में रही हुई स्त्री का एक साथी मिलने के लोभ से ग्रहण कर सकता है। जिस अभिप्राय से मैंने तुम्हारा उद्धार किया है, वह मैंने पा लिया है। मेरा बदला चुक गया, मेरी आसक्ति अब तुममें नहीं है। तुम्हारी इच्छा जहाँ हो, वहाँ जाओ। भद्रे! बहुत सोच-विचार कर मैंने तुमसे यह कहा है; लक्ष्मण

या भरत के पास तुम जा सकती हो; शत्रुघ्न सुग्रीव या राक्षसराज, विभीषण के पास तुम रहो; अथवा जहाँ तुम्हें समझ पड़े, वहाँ तुम रहो' (६.११५.१६-२३)। इन वचनों के उत्तर की भूमिका में राम से सीता ने ठीक ही कहा है, "वीर, मेरे लिये अयोग्य, और कानों के लिये दारुण, इस प्रकार के बचन आप मुझे क्यों सुना रहे हैं ? इस प्रकार के वचन तो प्राकृतजन (असभ्य लोग) प्राकृत स्त्रियों (असभ्य स्त्रियों) को कहा करते हैं।" (६.११६.५)

'अध्यात्म रामायण' में ऊपर के चार में से तीन कथन बिलकुल नहीं हैं; और चौथे के स्थान पर इतना ही आया है, "भगवान राम ने कार्यार्थ निर्मित माया सीता को देखकर उनसे बहुत सी न कहने योग्य बातें कहीं" (६.१२.७५.७६)। गोस्वामी जी ने भी ठीक ऐसा ही किया है। समालोचकों ने आदि काव्य से 'राम चरित मानस' तक की कथा की यात्रा में 'अध्यात्म रामायण' के इस योग से आँखें मूँद कर इस चरित्र-संशोधन का सारा श्रेय गोस्वामी जी को दिया है। यह अनुचित हुआ है।

अस्तु, गोस्वामी जी के सामने राम के दो रूप थे। इनमें से दूसरे ही रूप को गोस्वामी ने ग्रहण किया। उनके लिए राम एक आदर्श मानव मात्र नहीं थे; वे उनके आराध्य थे; वे ईश्वर थे, जो मानवी लीला मात्र कर रहे थे; इसलिए राम के इस दूसरे रूप को ग्रहण करना उनके लिये स्वाभाविक ही था। किंतु गोस्वामी जी ने 'अध्यात्म रामायण' से राम का वह रूप लेकर उसको विकसित भी किया है। उन्होने ऐसे अनेक अन्यान्य प्रसंगों में भी राम के चरित्र में उन्हीं गुणों का समावेश किया है, जो 'अध्यात्म रामायण' में कुछ इने-गिने प्रसंगों में ही मिलते हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

१—अपने निवास-स्थान पर आए हुए गुरु वसिष्ठ का स्वागत राम कितनी नम्रतापूर्वक नीचे लिखे शब्दों में करते हैं :

गहे चरण सिय सहित बहोरी। बोले राम कमल कर जोरी।
सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगलमूल अमंगल दमनू।
तदपि उचित जन बोलि सप्रीती। पठइअ काज नाथ असि नीती।
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु येह गेहू।
आयेसु होइ सो करउँ गोसाईं। सेवक लहइ स्वामि सेवकाईं।
(अयोध्या० ९)

२—गुरु वसिष्ठ द्वारा अपने युवराज पद पर अभिषिक्त होने के आयोजन की सूचना पाने पर गोस्वामी जी राम की प्रतिक्रिया का परिचय इस प्रकार देते हैं:

गुरु सिख देइ राउ पहँ गयऊ। राम हृदय अस बिसमय भयऊ।
जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई।
करनबेध उपवीत बिबाहा। संग संग सब भएउ उछाहा।
बिमल बंस येह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू।
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई।
(अयोध्या० १०)

३—गोस्वामी जी ने अपने राम के 'कोमल कुसुमहु चाहि' स्वभाव का जो परिचय दिया है, उसका एक चित्र इस प्रकार का है:—

सीय लखन जेहि बिधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं।
कहहिं पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लखन सिय अति सुख मानी।
जब जब राम अवध सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं।
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरत सनेह सील सेवकाई।
कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी। धीरज धरहिं कुसमउ बिचारी।
लखि सिय लखन बिकल होइ जाहीं। जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं।
प्रिया बंधु गति लखि रघुनंदन। धीर कृपालु भगत उर चंदन।
लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुख लहहिं राम अरु सीता।
(अयोध्या० १४१)

४—जिस कैकेयी ने उन्हें उनसे अयोध्या का राज्य छीनकर चौदह वर्षों के लिए वन भेजा, उससे तुलसीदास के राम चित्रकूट में अपनी मातासे भी पहले और कितने उदार चित्त के साथ मिलते हैं :

देखी राम दुखित महतारी। जनु सुबेलि अवली हिम मारी।
प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभाय भगति मति भेई।
पग परे कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी।
(अयोध्या० २२४)

राम के इस आचरण के स्वाभाविक परिणाम-स्वरूप गोस्वामी जी कैकेयी में घोर अनुताप इस प्रकार चित्रित करते हैं :

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई।
अवनि जमहि जाँचत कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई।
(अयोध्या० २५२)

५—सभी महान चरित्रों के अनुरूप अन्यों के चरित्र की उदारता और महानता का कथन करते हुए गोस्वामी जी के राम किस प्रकार नहीं अघाते हैं! वसिष्ठ से वे कहते हैं :

नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भएउ न भुवन भरत सम भाई।
जे गुरुपद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़ भागी।
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू।
लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई।
(अयोध्या० २५९)

६—अपने राम में गोस्वामी जी ने कितनी सुंदरता और स्वाभाविकता के साथ एक संकोचशील स्वभाव का चित्रण किया है, इसे चित्रकूट की अंतिम सभा की निम्नलिखित भूमिका में देखिए :

भोर न्हाइ सब जुरा समाजू। भरत भूमिसुर तिरहुति राजू।
भल दिन आजु जानि मन माहीं। राम कृपालु कहत सकुचाहीं।

गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिर अवनि विलोकी।
सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची।
(अयोध्या० ३१३)

७—अपने राम में गोस्वामी जी शत्रु के प्रति भी अहिंसा का कितना अनुकरणीय विकास करते हैं, जब वे अंगद को रावण के पास भेजते हुए राम से कहलाते हैं :

काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बात कही सोई।
(लंका० १७)

८—गोस्वामी जी के राम अपने शरणागत-रक्षण धर्म का सक्रिय प्रमाण विभीषण पर रावण-द्वारा शक्ति-प्रहार के अवसर पर अपने प्राणों को भी संकट में डालकर कितने सुंदर ढंग पर देते हैं :

आवत देखि सक्ति खर धारा। प्रनतारित हर बिरिद सँभारा।
तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला।
लागि सक्ति मुरछा कछु भई। प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई।
(लंका० ६४)

इन अवतरणों से यह भी प्रकट हुआ होगा कि रामके चरित्र-चित्रण में केवल बुद्धि का योग नहीं है, हृदय का भी योग है। यदि केवल बुद्धि का योग होता, तो अधिक से अधिक यह होता कि एक परिष्कार मात्र दिखाई पड़ता, किंतु इतना ही नहीं है। संपूर्ण चरित्र को गोस्वामी जी ने अपने हृदय की स्निग्धता से सिंचित करके प्रायः एक नवीन रूप ही दे दिया है।

११—तुलसी के भरत

अपने आराध्य के अतिरिक्त यदि किसी पात्र का विकास गोस्वामी जी ने प्रायः उसी कक्षा तक किया है, तो वह हैं भरत। और यह बात उन्होंने स्वतः जनक जैसे विवेकशील व्यक्ति के मुख से दोनों चरित्रों की विवेचना के रूप में प्रस्तुत की है :

भरत अवधि सनेह ममता की। जद्यपि राम सींव समता की।,
(अयोध्या० २८६)

राम किस प्रकार 'समता'-'समत्व बुद्धि' की पराकाष्ठा हैं, यह तो ऊपर देखा जा चुका है, भरत 'ममता' की पराकाष्ठा किस प्रकार हैं, यह देखना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'ममता' का अर्थ यहाँ पर 'स्नेह' अथवा 'भक्ति' है। 'राम चरित मानस' के कुछ मौलिक स्थलों को लेकर ही इस विषय में नीचे विचार किया जाएगा।

सात्विक प्रेम आत्मत्याग और आत्मोत्सर्ग की भावना का एक ऐसा रूप है जिसमें प्रेमी उस आत्मत्याग और आत्मोत्सर्ग में एक आनंदपूर्ण विवशता का अनुभव करता है। यह आनंद ही उस प्रेम का प्रतिदान है। इस प्रेम के प्रतिदान में वह कुछ भी नहीं चाहता—यहाँ तक कि वह प्रिय से प्रेम की भी अपेक्षा नहीं करता। उलटे प्रिय की कठोरता उसके आत्मोत्सर्ग जनित आनंद के वार्धक्य का कारण होती है। तीर्थराज से भरत जिस प्रेम का वर चाहते हैं, वह इसी प्रकार का है :

सकल कामप्रद तीरथ राऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ।
माँगउँ भीख त्यागि निजि धरमू। आरत काह न करहिं कुकरमू।
अस जियँ जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचक बानी।

अरथ न धरम न काम रुचि पद न चहौं निरबान।
जनम जनम रति रामपद यह बरदानु न आन॥
जानहु राम कुटिल करि मोहीं। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही।
सीताराम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें।
जलद जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जल पबि पाहन डारउ।
चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई।
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद प्रेम निबाहें।
(अयोध्या० २०४-२०५)

चातक के एकांगी प्रेम का यह मार्ग गोस्वामी जी को कितना प्रिय था, इसकी कल्पना इसी से की जा सकती है कि 'दोहावली' में उन्होंने ३४ दोहों (दोहा २७७-३१२) की रचना इसी प्रेम का निरूपण करने के लिए की है, और 'विनयपत्रिका' (पद ६५) में भी इसी प्रेम को आदर्श माना है।

प्रिय के स्पर्श से सौभाग्यशाली होने के कारण वियोगी की मिलन-यात्रा में मार्ग के जड़ पदार्थ भी उसको प्रिय के स्पर्श का आनंद किस प्रकार देते हैं:

राम सखा कर दीन्हें लागू। चलत देह धरि जनु अनुरागू।
नहिं पदत्रान सीस नहिं छाया। प्रेम नेम ब्रत धरम अमाया।
लखन राम सिय पंथ कहानी। पूँछत सखहि कहत मृदु बानी।
राम बास थल बिटप बिलोके। उर अनुराग रहत नहिं रोके।
(अयोध्या० २१६)

प्रिय का नाम-स्मरण कितना वेदनापूर्ण होता है:

जबहिं राम केहि लेहिं उसासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा।
द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना।
(अयोध्या० २२०)

प्रिय के शरीर के वर्णों का सादृश्य भी किस प्रकार वियोगी के विरह को तीव्र कर देता है :

बीच बास करि जमुनहि आए । निरखि नीरु लोचन जल छाए ।

रघुबर बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज ।
होत मगन बारिधि बिरह चढ़े बिबेक जहाज ॥

(अयोध्या० २२०)

घोर अनुताप के कारण प्रिय के आगंतुक मिलन की कल्पना भी वियोगी को कितनी भयानक होती है ।

समुझि मातु करतब सकुचाहीं । करत कुतरक कोटि मन माहीं ।
राम लखन सिय सुनि मम नाऊँ । उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ ।

मातु मते महँ जानि मोहिं जो कछु कहहिं सो थोर ।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर ॥

जौं परिहरहिं मलिन मन जानी । जौं सनमानहिं सेवक मानी ।
मोरें सरन राम की पनहीं । राम सुस्वामि दोष सब जनहीं ।
जग जस भाजन चातक मीना । नेम प्रेम निज निपुन नबीना ।
अस मन गुनत चले मग जाता । सकुच सनेह सिथिल सब गाता ।

(अयोध्या० २३४)

प्रिय का मिलन समस्त द्वंदात्मक भावों से परे कितना मौन होता है :

सानुज सखा समेत मगन मन । बिसरे हरष सोक सुख दुख गन ।
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं । भूतल परे लकुट की नाईं ।

(अयोध्या० २४०)

किंतु वह कितना अगाध और अवर्णनीय होता है :

मिलन प्रीति किमि जाइ बखानी । कबि कुल अगम करम मन बानी ।
परम प्रेम पूरन दोउ भाई । मन बुधि चित अहमिति बिसराई ।

कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई।
कबिहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा।
अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को।
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाजु राग कि गाँडर ताँती।
(अयोध्या० २४१)

समानों में प्रेम का प्रादुर्भाव तो अनेकानेक मार्गों और साधना-पद्धतियों में प्रतिपादित किया गया है; असमानों में प्रेम की पराकाष्ठा प्रस्तुत करना गोस्वामी जी की ही विशेषता है। इस विषय में नीचे की पंक्तियाँ देखिए :

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ।
मोपर कृपा सनेह बिसेखी। खेलत खुनस न कबहूं देखी।
सिसुपन ते परिहरेउ न सगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भगू।
मैं प्रभु कृपा रीति जिअँ मोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही।
महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कहे न बैन।
दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पिआसे नैन॥
(अयोध्या० २६०)

प्रिय की आज्ञा ही उसका सबसे बड़ा प्रसाद, और उस आज्ञा का पालन ही प्रेमी की सबसे बड़ी परितृप्ति का विषय किस प्रकार होता है, यह नीचे की पंक्तियों में देखिए :

प्रभु पद पदुम पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुख सींव सुहाई।
सो करि कहउँ हिये अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की।
सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई।
अज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावइ देवा।
अस कहि प्रेम बिबस भए भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी।
प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेह न सो कहि जाई।
(अयोध्या० ३०१

वियोगी का मिलनांतर पुनर्वियोग कितना हृदय द्रावक हो सकता है, इसका अनुमान नीचे की पंक्तियाँ पढ़ कर कीजिए :

भेंटत भरि भुज भाइ भरत सो। राम प्रेम रस कहि न परत सो।
तन मन बचन उमग अनुरागा। धीर धुरंधर धीरज त्यागा।
बारि बिलोचन मोचत बारी। देखि दसा सुर सभा दुखारी।
निगन गुर धुर धीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसे कनक से।
जे बिरंचि निरलेप उपाए। पदुमपत्र जिमि जग जल जाए।
तेउ बिलोकि रघुबर भरत प्रीति अनूप अपार।
भए मगन तन मन बचन सहित बिराग बिचार॥
जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी।
बरनत रघुबर भरत बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू।
सो सकोच रस अकथ सुबानी। समउ सनेह सुमिरि सकुचानी।
(अयोध्या० ३१८)

इस पुनर्वियोगी की प्रेम-साधना का चित्र कवि ने इस प्रकार अंकित किया है :

देह दिनहु दिन दूबरि होई। घट न तेज बल मुख छबि सोई।
नित नव राम प्रेम पनु पीना। बढ़त धरमदल मन न मलीना।
जिमि जल निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे।
समदम संजम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा।
ध्रुव बिस्वास अवधि राका सी। स्वामि सुरति सुर बीथि बिकासी।
राम प्रेम बिधु अचल अदोखा। सहित समाज सोह नित चोखा।
भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती।
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं।
(अयोध्या० ३२५)

इस पुनर्वियोगी की अंतिम अंधकारपूर्ण रात्रि का चित्र कवि इस प्रकार प्रस्तुत करता है :

रहेउ एकदिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा।
कारन कवन नाथ नहिं आए। जानि कुटिल किधौं मोहिं बिसराए।
कपटी कुटिल मोहिं प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा।
जो करनी समुझहिं प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी।
बीते अवधि रहहिं जौ प्राना। अधम कवन जग मोहिं समाना।
(उत्तर० १)

प्रिय के आगमन का संदेशवाहक वियोगी को किस प्रकार प्रिय के मिलन का सुख देता है :

कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहिं राम पिरीते।
(उत्तर० २)

पुनर्मिलन का अनिर्वचनीय सुख इस प्रकार वर्णित होता है :

परे भूमि नहिं उठत उठाए। बल करि कृपासिंधु उर लाए।
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े।

बूझत कृपानिधि कुसल भरतहिं बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मनते भिन्न जानि जो पावई॥
अब कुसल कोसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहिं कर गहि लियो॥
(उत्तर० ५)

तुलसीदास ने भरत के इस प्रेम के विषय में अपना मत बहुत स्पष्ट कर दिया है : राम की भक्ति के प्रादुर्भाव के लिए जितना आवश्यक उन्होंने स्वतः राम का शील : निरूपण माना है, उससे कम आवश्यक कदाचित् भरत के इस प्रेम-निरूपण को नहीं माना है :

भरत सुभाउ न सुगम निगम हू। लघुमति चापलता कबि छमहू।
कहत सुनत सति भाउ भरत को। सीय राम पद होइ न रत को।

सुमिरत भरतहि प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को।
(अयोध्या० ३०४)

वास्तव में तुलसी दास के भरत का चरित्र कुछ इसी प्रकार का लगता है।

१२—अन्य पात्र

कथा के सभी पात्रों पर विचार करना यहाँ संभव नहीं है; केवल अति मुख्य पात्रों के विषय में ही विचार किया जाएगा।

लक्ष्मण

अनेक बातों में समान होते हुए भी लक्ष्मण राम और भरत से भिन्न हैं। यद्यपि उन्हीं की भाँति वे भी सत्यप्रिय, सरल, विनम्र और कर्तव्य-परायण और दृढ़ हैं, किंतु वे उनकी भाँति समाजधर्मी नहीं स्वामिधर्मी हैं। यह बात उनके अन्यत्र के आचरण से तो भली भाँति प्रमाणित होती ही है, सबसे अधिक विशद रूप से उनके स्वामी राम के साथ वन चलने वाले आग्रह से प्रमाणित होती है। 'नयनागर' राम उनसे कहते हैं:

"इस जीवन की सार्थकता गुरुजनों का आज्ञा-पालन करने और उनकी सेवा करने में है; राजा वृद्ध हैं, और मेरे वन-गमन से दुखी भी हैं; घर पर भरत और शत्रुघ्न भी नहीं हैं; ऐसी स्थिति में यदि तुम भी मेरे साथ चलते हो, तो अयोध्या सभी प्रकार से अनाथ हो जाती है, और समस्त गुरुजनों को भी दुःसह दुःखों का सामना करना पड़ता है; और जिस राजा के राज्य में प्रियजन और प्रजा इस प्रकार दुखी होते हैं, वह अवश्य ही नर्कगामी होता है; अतः इस नीति-धर्म का विचार करके तुम्हें घर पर ही रहना चाहिए" (अयोध्या० ७१)। इस नीति-धर्म के उपदेश पर लक्ष्मण का उत्तर इस प्रकार है:

दीन्हि मोहिं सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं।
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति के ते अधिकारी।

मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला । मंदर मेरु कि लेहिं मराला ।
गुरु पितु मातु न जानौं काहू । कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ।
जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीत निगम निजु गाई ।
मोरे सबहिं एक तुम्ह स्वामी । दीन बंधु उर अंतरजामी ।
धरम नीति उपदेसिअ ताही । कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ।
मन क्रम बचन चरन रत होई । कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई ।

(अयोध्या० ७२)

तुलसीदास के लक्ष्मण की यही विशेषता है । उनके इसी अनुराग के कारण के बरबस धीर और सत्यप्रतिज्ञ राम को भी उनके शक्ति द्वारा मूर्छित होने पर कहना पड़ाः

जौ जनतेउँ बन बंधु बिछोहू । पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू ।
जैहौं अवध कवन मुह लाई । नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई ।
बरु अपजस सहतेउँ जगमाहीं । नारि हानि बिसेष छति नाहीं ।
अब अपलोक सोक सुत तोरा । सहिहि निठुर कठोर उर मोरा ।

(लंका० ६१)

तुलसी की रामकथा में केवल दो प्रसंग ऐसे हैं जो लक्ष्मण के सामान्य स्वभाव से कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं : एक है परशुराम के साथ उनका वाग्युद्ध (बाल० २७१-२८०), और दूसरा है निषाद को उनका पारमार्थिक का उपदेश (अयोध्या० ६२-६४) । परशुराम-लक्ष्मण संवाद का न केवल समर्थन किया गया है, वरन् समालोचकों ने उसकी प्रशंसा भी की है । रामलीला देखने वाली 'प्राकृत' जनता यदि लक्ष्मण की उक्तियों का समर्थन करे तो करे, 'संस्कृत' समालोचक की दृष्टि कुछ भिन्न होनी चाहिए । परशुराम का रोष अकारण नहीं था; अपने गुरु का धनुष वे टूटा हुआ देख रहे थे, इसलिये वीर होते हुए उन्हें धनुर्भंग करने वाले को चुनौती देना स्वाभाविक था । उस

चुनौती के उत्तर में उन्हें अपमानपूर्वक (बाल० २७१) आड़े हाथों लेना लक्ष्मण जैसे बालक के लिये अशिष्टता की सीमा तो है ही, लक्ष्मण अन्यत्र कहीं इस प्रकार व्यंग्य और परिहास-प्रिय दिखाई भी नहीं पड़ते हैं, इसलिए उनके सामान्य स्वभाव के भी विरुद्ध है।

यही बात कुछ न कुछ-निषाद को संबोधित उनके पारमार्थिक उपदेश के संबंध में भी कही जा सकती है। अन्यत्र कहीं भी वे राम के पारमार्थिक रूप के विषय में इस प्रकार प्रबुद्ध नहीं दिखाई पड़ते हैं। इसलिए इस प्रसंग में भी उनका आचरण उनके सामान्य स्वभाव से कुछ अलग जा पड़ता है।

शत्रुघ्न

शत्रुघ्न के चरित्र का विकास रामकथा में नहीं किया गया है। केवल एक बार उन पर पाठक की दृष्टि आवश्यक रूप में जाती है, जब वे मंथरा पर प्रहार करते हैं :

हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुँह भरि महि करत पुकारा।
कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू।
आह दैव मैं काह नसावा। करत नीक फल अनइस पावा।
सुनि रिपुहन लखि नखसिख खोटी। लगे घसीटन धरि धरि झोंटी।
(अयोध्या० १६२)

शत्रुघ्न के चरित्र का अन्यत्र कोई विपरीत परिचय न मिलने के कारण उनके इस आचरण को उनके स्वभावानुकूल ही मानना पड़ेगा।

दशरथ

दशरथ के चरित्र में गोस्वामी जी ने धर्म और स्नेह का अपूर्व संघर्ष दिखाते हुए दोनों के निर्वाह का सन्निवेश किया है। इस विषय में गोस्वामी जी का दृष्टिकोण निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है :

सपनो सो अपनो न कछू लखि लघु लालच न लोभाउँगो।
कहिहौं बलि रोटिहा रावरो बिनु मोल ही बिकाउँगो।
तुलसी पट उतरे ओढ़िहौं उबरी जूठनि खाउँगो।
(सुंदर० ३०)

उसके स्वभाव में नीतिमत्ता और विनम्रता भी है, जैसा प्रत्येक रामभक्त में होना चाहिए रावण को सीता के लौटाने का परामर्श वह केवल इसलिए नहीं देता कि राम स्वयं ईश्वर हैं, और उन्हें जीतना असंभव है; वह इसलिए भी यह परामर्श देता है कि पर-स्त्री अपहरण कभी भी कल्याणकारक नहीं हो सकता, और यही उसका प्रथम आधार है :

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजसु सुमति सुभगति सुख नाना।
सो पर नारि लिलारु गोसाईं। तजइ चौथ के चंद कि नाईं।
(सुंदर० ३८)

उसकी विनम्रता रावण द्वारा अपमानित होने पर देखी जाती है। लात मारते हुए रावण से वह यही कहता है :

तुम्ह पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा।
(सुंदर० ४१)

गोस्वामी जी ने इस प्रसंग में ठीक ही कहा है :

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई।
(सुंदर० ४१)

हनुमान

बाल्मीकि में हनुमान एक समर्थ, साहसी, वीर, दृढ़, बुद्धिमान, विनयी, जितेन्द्रिय, धीर, गंभीर, सरल, धर्म-बुद्धि संपन्न, निःस्वार्थ, और कर्त्तव्य-परायण सेवक हैं, जो सदैव स्वामी के कल्याण और कार्य-साधन में दत्तचित्त दिखाई पड़ते हैं। 'अध्यात्म रामायण' में उनकी

यह स्वार्थहीन सेवा भक्ति का रूप धारण किए हुए दिखाई पड़ती है। गोस्वामी जी ने हनुमान का यही रूप लिया है, और उसमें दास्य भक्ति की पराकाष्ठा दिखाई है। दोनों का अंतर निम्नलिखित प्रसंग से स्पष्ट हो जावेगा।

सीता का समाचार लंका से लौट कर हनुमान ने स्वामी राम को सुनाया है। 'अध्यात्म रामायण' में हनुमान के वचन सुन कर राम प्रसन्न होकर कहते हैं, "हनुमन्! तुमने जो कार्य किया है वह देवताओं से भी होना कठिन है। मैं इसके बदले में तुम्हारा क्या उपकार करूँ, सो नहीं जानता। लो मैं तुम्हें अभी अपना सर्वस्व सौंपता हूँ।" ऐसा कह कर वानर-श्रेष्ठ हनुमान को खींच कर वे गाढ़ालिंगन करते हैं (अध्यात्म० ५.५.६१)। 'राम चरित मानस' में राम के कृतज्ञतापूर्ण वचनों को सुन कर, और उनकी कृतज्ञ दृष्टि देख कर, हनुमान स्वतः उनके चरणों पर गिर पड़ते हैं, और ऐसे प्रेमाकुल हो जाते हैं कि बार-बार उठाने पर भी नहीं उठना चाहते हैं :

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।
प्रति उपकार करउँ का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा।
सुन सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं।
पुनि पुनि कपिहि चितव सुर त्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता।

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥

बारबार प्रभु चहहिं उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा।
प्रभु कर पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा।
सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर।
कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा।

(सुंदर० ३२-३३)

यह प्रसंग कवि को कितना प्रिय था, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वह कथा के वक्ता शिव तक को उसी प्रकार प्रेम-विह्वल चित्रित करता है। कथा कहते हुए इस प्रकार 'मगन' होने और मनको सँभालने की आवश्यकता शिव को अन्यत्र नहीं पड़ी है।

अंगद

वाल्मीकि के अंगद में हनुमान के अनेक गुण हैं, किंतु उस प्रकार की हृदय की सरलता, मत्सरहीनता, और धर्म-बुद्धि नहीं है जो हनुमान में है। सीता के अन्वेषण में जब उसे असफलता दिखाई पड़ती है, और समझता है कि किष्किंधा लौटने पर सुग्रीव कादाचित् ही उसे जीवित छोड़ेगा, वह तार के साथ विद्रोह करता है, और न केवल सुग्रीव वरन् स्वामी राम के विरुद्ध भी स्वर ऊँचा करता है (रामायण ४. ५३. २५-२६); यहीं तक नहीं, वह स्वयं-प्रभा द्वारा परित्यक्त गुहा में अपना शासन केन्द्र भी बनाना चाहता है, और तभी इससे विरत होता है जब हनुमान उसका तीव्र विरोध करने को उद्यत होते हैं (रामायण ४. ५४)। 'अध्यात्म रामायण' में अंगद विद्रोह तो नहीं करते हैं, केवल वह अपने जीवन का अंत कर देना चाहता है। इस पर कुछ प्रमुख वानर वहीं उस सुंदर गुहा में ही अंगद के साथ रह जाने और लौट कर न जाने का विचार करते हैं। इस पर हनुमान उन्हें सभी प्रकार से अपना निश्चय बदलने के लिए समझाते हैं, और राम के पारमार्थिक स्वरुप का भी परिचय कराते हैं (४. ७)।

तुलसीदास के अंगद 'अध्यात्म रामायण' के अंगद के समान ही निरीह हैं। किंतु ऐसा ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी के मानस-पटल पर वाल्मीकीय 'रामायण' के अंगद का रूप गया नहीं है। उन्होंने अंगद-रावण संवाद में अंगद को जैसा उद्धत चित्रित किया है, उससे यही बात ज्ञात होती है। रावण के पास उसको भेजते समय राम ने इतना ही कहा है:

काज हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई ।

(लंका० १७)

किंतु अंगद रावण के साथ उस 'बतकही' में 'खल', 'शठ', 'अधम' 'मलराशि' 'मंदमति' आदि शब्दों का प्रयोग बड़ी ही स्वच्छंदता से करता है, यहाँ तक कि इस विषय में रावण से भी वह आगे बढ़ जाता है—रावण के वचनों में इनकी संख्या दस ही है जब कि अंगद के वचनों में अठारह है। लक्ष्मण-परशुराम संवाद की भाँति प्रायः समालोचक इस संवाद की भी प्रशंसा करते हैं, किंतु राम के दूत के द्वारा किए गए इस कार्य की प्रशंसा कैसे की जावे, यह समझ में नहीं आता।

राम-सीता के साथ अयोध्या आने के अनंतर अंगद आग्रहपूर्वक राम की सेवा में ही रहना चाहता है, किंतु राम उसे समझा बुझा कर किष्किंधा लौटाते हैं (उत्तर० १८-१९)। भक्त पाठक तो इससे कदाचित् यही आशय निकालेंगे कि उनमें इसके लिए उस प्रकार की पात्रता नहीं थी जैसी हनुमान में थी।

कौशल्या

रामकथा के स्त्री पात्रों में से गोस्वामी जी का सबसे अधिक मौलिक योग कौशल्या के विषय में है। वाल्मीकीय और उनके अनंतर के सभी रामायणों में कौशल्या एक मानवी हैं, 'राम चरित मानस' में वे देवी हैं।

जिस कैकेयी ने उनके एक मात्र पुत्र को चौदह वर्षों का वनवास दिलाया है, उसके संबंध में किसी प्रकार की मलिनता उनके मन में कहीं नहीं दिखाई पड़ी है। अपने मातृत्व के अधिकारों का ध्यान करके दशरथ की आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए भले ही वे कह सकती हैं, किंतु कैकेयी भी माता है, उसकी आज्ञा को तो वे सहर्ष सिर पर धारण करने के लिए ही कहेंगी (अयोध्या० ५६)।

जिस सपत्नी के पुत्र के लिए ही अपने पुत्र का निर्वासन हुआ है, उसको हृदय से लगाने के लिए किस प्रकार आतुर होकर वे दौड़ पड़ती हैं, और उसको हृदय से लगाकर किस प्रकार वे यह अनुभव करती हैं जैसे उसे उनका निर्वासित पुत्र ही प्राप्त हो गया है :

सरल सुभाय माय हिय लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए।
(अयोध्या० १६४)

उनके इस आचरण पर कवि ने ठीक ही टिप्पणी की है :

देखि सुभाउ कहत सब कोई। राम मातु अस काहे न होई।
(अयोध्या० १६५)

अनेक विवेकपूर्ण वचनों द्वारा वे स्वतः भरत को सांत्वना देती हैं, और भरत को सभी प्रकार से निर्दोष कहते हुए, जब वे उन्हें हृदय से लगा लेती है, उनके स्तनों में मातृत्व का दूध और नेत्रों में वात्सल्य का प्रेमाश्रु छलक पड़ता है :

मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं।
अस कहि मातु भरत हिय लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए।
(अयोध्या० १६६)

चित्रकूट में जब सीता-माता राम के निर्वासन और उसके परिणामस्वरूप एक दशरथ के स्वर्ग-प्रयाण का प्रसंग चलाती हैं, उस समस्त प्रसंग पर कैसे विवेक के साथ वे अपनी भावनाएँ प्रकट करती हैं :

कौशल्या कह दोष न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू।....
देबि मोहबस सोचिय बादी। बिधिप्रपंच अस अचल अनादी।
भूपति जिअब मरब उर आनी। सोचिअ सखि लखि निज हित हानी।
(अयोध्या० २८२)

उन्हें अपने पुत्र और पुत्रवधू से भी अधिक उस सपत्नी पुत्र के लिए चिंता है :

लखन राम सिय जाहु बन भल परिनाम न पोच ।
गह्बर हिय कह कौसिला मोहिं भरत कर सोच ॥
(अयोध्या० २८२)

इतना ही नहीं, अयोध्या की सभा में उसी सपत्नी पुत्र से उन्होंने राज्य ग्रहण करने के लिए अपनी पूरी शक्ति के साथ अनुरोध भी किया है।
(अयोध्या० १७६)

कौशल्या के इसी चरित्र को देखकर यह विश्वास हो सकता है कि भगवान ने उनके गर्भ से अवतार लिया। इस प्रकार की राम-माता का चित्र उपस्थित करना 'मानस' के अमर भक्त कवि के द्वारा ही कदाचित् संभव भी था।

'गीतावली' में एक किंचित भिन्न कौशल्या का चित्रण हुआ है। कौशल्या के मातृपक्ष का विकास 'गीतावली' में ही दिखाई पड़ता है। वहाँ वे एक अत्यंत स्नेहमयी माता के रूप में चित्रित हुई हैं। विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण के जाने पर वे उनकी कुशल-चिंता से व्यथित दिखाई पड़ती हैं (बाल० ९७,९८,९९); उनके वन-गमन के अनंतर वे अपने चित्त की समस्त शांति खो बैठती हैं—और उनका यह चित्र अत्यंत करुण है (अयोध्या० ५१ ५५) चित्रकूट से राम के बिना लौटे ही लौटने पर पुनः वे अत्यंत अनुतापपूर्ण दिखाई देती हैं (अयोध्या० ८४-८७); और अंतिम बार वनवास की अवधि के अंत में अपने राम से वियुक्त जीवन पर ग्लानि करती हुई सामने आती हैं (लंका० १७—२०)। 'गीतावली' के इन स्थलों पर तुलसीदास की कोमल प्रकृति का परिचय मिलता है।

कैकेयी

आदि काव्य की कैकेयी में हम कौशल्या के विपरीत अपने पति द्वारा उचित से अधिक मात्रा में सम्मानित, और इसी कारण शरीर एवं

मन से उत्फुल्ल, अपनी सपत्नियों के प्रति अनुदार, असहिष्णु, निःशंक, मानाभीमानिनी, उद्धत और महत्वाकांक्षिणी महिला का चित्र पाते हैं। राम के निर्वासन के लिए आदि काव्य में मंथरा एक निमित्त मात्र है, बीज तो कैकेयी में पूर्व से ही विद्यमान है। 'अध्यात्म रामायण' में कैकेयी के इस उग्र रूप को किंचित मृदु करके राम के निर्वासित करने का उत्तर-दायित्व देवताओं की कूट मंत्रणा से प्रेरित सरस्वती पर रख दिया गया है। तुलसीदास ने कैकेयी के इसी रूप को लिया है, केवल निर्वासन के प्रसंग में उसे किंचित अधिक कठोर, और अनुताप में उसे किंचित अधिक द्रवित चित्रित किया है।

सुमित्रा

सुमित्रा का चरित्र कहीं विकसित नहीं हुआ है, लगभग उसी प्रकार जिस प्रकार उनके दूसरे पुत्र शत्रुघ्न का। तुलसीदास ने भी उनके चरित्र के विषय में इतना ही किया है कि 'मानस' में उन्हें राम के पारमार्थिक स्वरूप के विषय में अभिज्ञ चित्रित किया है। लक्ष्मण को वे राम के साथ वन-गमन के लिए सहर्ष अनुमति देती हुई कहती हैं :

पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई।
नतरु बाँझि भलि बादि बियानी। राम बिमुख सुत तें हितहानी।
तुम्हरेहिं भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं।
सकल सुकृत कर बड़ फल येहू। सीय राम पद सहज सनेहू।
राम रोग इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहुँ इनके बस होहू।
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई।
(अयोध्या० ७५)

'गीतावली' की सुमित्रा में भी कौशल्या की भाँति एक विशेषता है। उसमें वे एक स्नेहमयी माता होने के साथ-साथ वीर माता भी हैं। लक्ष्मण रणक्षेत्र में मूर्छित पड़े हैं। हनुमान द्वारा उनकी मूर्छा का

समाचार पा कर वे किंचित् व्यथित अवश्य होती हैं, किंतु दूसरे ही क्षण वे अपने दूसरे पुत्र शत्रुघ्न को युद्धस्थल में लक्ष्मण के स्थान पर राम की सहायता के लिए जाने के लिए कहती हैं। इस स्थल पर दो विरोधी रसों—करुण और वीर का घात-प्रतिघात दर्शनीय है।

सीता

आदि काव्य की सीता में हम एक निश्चयात्मक बुद्धि वाली, निष्कपट, सरल हृदय, विनयसंपन्न, किंतु आत्मसम्मान की भावनाओं से युक्त एक क्षत्राणी का चित्र पाते हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि रावण-वध के अनंतर राम के दुर्वचनों का कैसा स्वाभिमान पूर्ण उत्तर वह देती हैं। राम के साथ वन-गमन के लिए उनके आग्रह में भी यही बात दिखाई पड़ती है (२. २७,३०)। 'अध्यात्म' में इन्हीं सीता को लिया गया है, केवल उन्हें योगमाया का अवतार बना दिया गया है।

तुलसीदास इन पिछली सीता को लेते हैं। किंतु तुलसीदास की सीता में अपने व्यक्तित्व के प्रति सतत सजग वह रूप नहीं है जो आदि काव्य या 'अध्यात्म रामायण' में पाया जाता है। 'मानस' की सीता एक अत्यंत विनम्र और लज्जा एवं संकोचशीला कुलवधू है, जो सास की विद्यमानता में अपने पति से खुले मुँह कुछ कहना भी मर्यादा के विरुद्ध समझती है, और अपने पति के साथ वन-गमन की इच्छा सास से भी मौन अश्रुओं द्वारा ही प्रकट करती है (अयोध्या० ५८-६०)। पुनः जब घर पर पति के रहने के उपदेशों का जब वह उत्तर देने को प्रस्तुत होती है, उस के लिए सास से क्षमायाचना करके तब आगे बढ़ती है (अयोध्या० ६४)। सुमंत्र के कथनों का उत्तर भी वे अत्यंत संकोच के साथ उसी प्रकार देने को प्रस्तुत होती हैं, जिस प्रकार कोई पुत्रवधू अपने श्वसुर के कथनों का उत्तर देना चाहेगी। राम के राज्यारोहण के अनंतर भी वे घर के सभी कार्य भारतीय कुलवधू की भाँति करती हैं (उत्तर० २४)। फलतः तुलसीदास ने सीता

में अपने विचारों के अनुसार एक आदर्श कुलवधू का चित्र उपस्थित किया है।

'गीतावली' में सीता के चरित्र का वह अंश भी है, जो उनके निर्वासन से संबंध रखता है। उसमें सीता के उस निराश और भग्न हृदय का चित्र मिलता है, जो 'मानस' में नहीं है। यह चित्र निस्संदेह अत्यंत करुण है।

मंथरा

आदि काव्य में मथरा कैकेयी की एक परम विश्वासपात्र परिचारिका है, जो स्वामिनी के समान ही कुछ निःशंक भी है, चतुर और स्वामिभक्त तो वह है, ही और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अपनी स्वामिनी को भरत के लिए राज्य माँगने की प्रेरणा मात्र करती है। यही बात 'अध्यात्म रामायण' में भी है। 'मानस' की मंथरा तुलसीदास की विशेषता है। मंथरा ने जिन युक्तियों से 'मानस' में कैकेयी को उस कठोर कार्य के लिए सन्नद्ध किया है, उन्हें देख कर गोस्वामी जी के मानव और विशेष रूप से नारी-प्रकृति के अध्ययन का अच्छा परिचय मिलता है। तुलसीदास की प्रतिभा का यह संयोग पा कर मंथरा एक अमर चरित्र बन गई है।

मंदोदरी

केवल एक नारी पात्र के चरित्र पर कर किंचित विचार करने की आवश्यकता और है: वह है मंदोदरी। आदि काव्य अथवा 'अध्यात्म' में उसको कोई प्रमुखता नहीं प्राप्त हुई है। किंतु तुलसीदास ने राम से युद्ध अथवा विरोध से रावण को विरत करने के लिए साधन के रूप में मंदोदरी का उपयोग अनेक स्थलों पर किया है। यह यदि केवल नैतिक आधारों पर होता तो उचित ही था, किंतु प्रायः वह राम के पारमार्थिक स्वरूप से अभिज्ञ दिखाई गई है, यह अवश्य चिंत्य है।

'कवितावली' में उसने रावण को 'मंदमति', और 'नीच' (लंका० १८, २१), और अपने पुत्र मेघनाद को 'दाढ़ीजार' जैसे संबोधनों से संबोधित किया है (सुंदर० १८)। यह शिष्टता की सामान्य मर्यादा के विरुद्ध तो पड़ता ही है, तुलसीदास की सामान्य प्रकृति के भी विरुद्ध ज्ञात होता है। रामभक्ति के आवेश में ही कदाचित् उनसे इस प्रकार हो गया है।

अब यदि हम चरित्र-विधान के इस क्षेत्र में तुलसीदास की कला पर समष्टि रूप से विचार करें, तो हम कहेंगे कि उनका मौलिक योग, कुछ उपेक्षणीय अपवादों के साथ, रामकथा के चरित्रों को पूर्ववर्ती यत्किंचित आवेश, अविचार और अधीरता से मुक्त कर उन्हें पहले से भी अधिक धीरता, विचारशीलता, हृदय की विशालता, सरलता, मत्सर-हीनता, विनम्रता, स्निग्धता, धार्मिकता, और अपनी-अपनी पात्रता के अनुरूप भक्ति प्रदान करने में है। ये विशेषताएँ कदाचित् हमारे कवि के चरित्र की ही विशेषताएँ हैं, क्योंकि जिन चरित्रों के साथ उसकी विशेष सहानुभूति रही है, उनके विकास में यह स्वत: आई हुई प्रतीत होती हैं। और, किसी कलात्मक कृति में इस प्रकार की प्रतीति होना कलाकार की सफलता का एक ज्वलंत प्रमाण है।

१३—अध्यात्मिक आधार

तुलसीदास ने काव्य-रचना के लिए ही काव्य-रचना नहीं की, उन्होंने रामभक्ति का संदेश प्रत्येक पाठक तक पहुँचाने के लिये काव्य-रचना का आश्रय लिया—अन्यथा उनकी सभी रचनाओं का एक ही विषय न होता। और 'राम चरित मानस' की भूमिका में उन्होंने यह बात नितांत स्पष्ट कर दी है:

कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना।
भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा।
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागर कोरे।

भनित मोर सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्हके बिमल बिबेक॥

येहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।
मंगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी।
(बाल० १०)

उनकी दृष्टि में समस्त साहित्य-साधना की सार्थकता इस बात में है कि वाणी का उपयोग भगवान के पावन चरित्रों को गान करने में किया जावे:

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई।
राम चरित सर बिनु अन्हवाएँ। सो स्रम जाइ न कोटि उपाएँ।
कबि कोबिद अस हृदयँ बिचारी। गावहिं हरि जस कलि मल हारी।
(बाल० ११)

प्राकृत—लौकिक—चरित्रों का गान करने में उस दिव्य वाणी का उपयोग उसके लिए घोर अनुताप का विषय होता है :

कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना । सिर धुनि गिरा लगति पछिताना ।
(बाल० ११)

फलतः गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में, जैसा हमने ऊपर देखा है, पूर्ण मानवता के जो एकाधिक चित्र प्रस्तुत किए हैं, उनके उक्त प्रयास का आध्यात्मिक आधार भी समझने का यत्न करना चाहिए। नीचे उनके विचार यथासंभव उन्हीं के शब्दों में रक्खे जाते हैं।

१—शरीरों में सब से अधिक दुर्लभ मानव शरीर है। इसके समान दूसरा शरीर नहीं है,क्योंकि इसके द्वारा जीव सभी प्रकार की अभीष्ट गतियाँ प्राप्त कर सकता है :

नर तनु सम नहिं कवनिउँ देही। जीव चराचर जाचत जेही।
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ज्ञान बिराग भगति सुभ देनी।
(उत्तर० १२१)

२—इस शरीर का सब से मूल्यवान उपयोग परमार्थ-साधन में है, विषय-साधन में नहीं :

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं पर लोक सँवारा।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

येहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।
नर तनु पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं।
ताहि कबहुँ भल कहइ कि कोई। गुंजा ग्रहै परस मनि खोई।
(उत्तर० ४३-४४)

३—जीव को आवागमन के दुःखों से मुक्त करने के लिये जो कर्म की व्यवस्था की गई है, वह उसके लिये समर्थ नहीं है, कारण यह है कि आवागमन का कारण कर्मों के संस्कार हैं—अंतर यही होता है कि शुभ कर्मों से शुभ संस्कार होने के कारण वह शुभ गतियाँ और अशुभ कर्मों के अशुभ संस्कार होने के कारण वह अशुभ गतियाँ प्राप्त करता है, इसलिए उस कर्म मार्ग का परित्याग ही श्रेयस्कर है :

करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।
काल रूप तिन्ह कर मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता।
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहिं संसृति दुख जाने।
त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहिं सुर नर मुनि नायक।
(उत्तर० ४१)

छूटइ मल कि मलहि के धोएँ। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोएँ।
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अंतर मल कबहुँ न जाई।
(उत्तर० ४६)

४—भवजनित क्लेश को नष्ट करने में ज्ञान समर्थ है :

भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।
(उत्तर० ११५)

५—किंतु उस ज्ञान का स्वरूप-निरूपण, उसका बोध, और उसका साधन—ये सभी कठिन हैं; कदाचित् ही कोई इसको प्राप्त कर पाता है :

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥

ज्ञान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई।
(उत्तर० ११९)

६—जीव ईश्वर का अंश है, इसलिए वह सच्चिदानंद है। किंतु माया (अविद्या) के वश में हो जाने के कारण वह अपने उस चेतन रूप को भूलकर जड़ शरीर से अपने को अभिन्न समझने लगता है। परिणाम यह होता है कि चेतन और जड़ परस्पर आबद्ध हो जाते हैं। अविद्या के अंधकार के कारण वह गाँठ खुल नहीं पाती। उस गाँठ को खोलने के लिए आध्यात्मिक प्रकाश चाहिए :

ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो माया बस भएउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं।
जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।
तब तें जीव भएउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी।
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।
जीव हृदयँ तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी।

(उत्तर० ११७)

७—वह प्रकाश ज्ञान-साधन से प्राप्त हो सकता है, किंतु ज्ञान एक दीपक के समान है, जिसको प्रस्तुत करने में अनेक कष्टसाध्य क्रियाओं-प्रक्रियाओं की आवश्यकता होती है (उत्तर० ११७-११८)। प्रज्वलित हो जाने के अनंतर भी वह विषय की वायु का झोंका लगने पर बुझ जाता है, और जीव पुन. उसी अविद्या के अंधकार में पड़कर अपना अभीष्ट नहीं प्राप्त कर पाता। (उत्तर० ११८)

८—दूसरी ओर रामभक्ति सुंदर चिंतामणि के समान है, जो स्वयं-प्रकाश है। यह अविद्या का अंधकार तो नष्ट करने में समर्थ है ही, इसके बुझने का कोई डर नहीं है। और इस चिंतामणि का प्राप्त करना भी सुगम है; अभागा मनुष्य स्वतः इसकी प्राप्ति का मार्ग बंद कर देता है। (उत्तर० १२०)

९—यह चिंतामणि वेदों और पुराणों के पवित्र पर्वत में पाया जाता

है, जिनमें रामकथा की सुंदर खानें हुआ करती हैं; रामकथा की उन खानों को खोदने के लिए उसके मर्म को समझने वाली सद्बुद्धि की कुदाल चाहिए, और नेत्र चाहिए ज्ञान और वैराग्य के; यदि इन उपादानों के होते हुए कोई प्रेमपूर्वक उस चिंतामणि की खोज करेगा ,तो उसे वह अवश्य प्राप्त होगा। (उत्तर० १२०)

[गोस्वामी जी का ध्यान इस ओर कदाचित् नहीं गया कि इसी प्रसंग में ज्ञान की उपलब्धि उन्होंने इतनी दुस्साध्य बताई है, और यहाँ वह अपेक्षाकृत सुगम कही गई भक्ति के लिए आवश्यक दो में से एक नेत्र के रूप में है]।

१०—अन्य साधनों की तुलना में भक्ति को विशेषता के और भी कारण हैं। और साधन पुरुषार्थ-प्रधान होने के कारण पुरुष और भक्ति परावलंबिनी होने के कारण स्त्री है; और माया भी स्त्री है। पुरुष स्वभाव से नारी की ओर आकृष्ट हो जाता है, किंतु नारी की भी नारी-रूप पर मोहित नहीं होती। इसके अतिरिक्त भक्ति राम की प्रियतमा है, जब कि माया उनके संकेतों पर नाचने वाली नर्त्तकी मात्र है; जिसके हृदय में उनकी प्रियतमा विराजमान रहती है, माया उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकती। (उत्तर० ११६)

११—फलतः रामभक्ति के बिना मुक्ति एक प्रकर से ही असंभव है —और इस संबंध में गोस्वामी जी कितने निश्चित हैं !

रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकै भवबंधन छोरी।
(बाल० २००)

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निरबान।
ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूछ बिषान ॥
राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ ॥

ऐसेहिं बिनु हरि भजन खगेसा। मिटै न जीवन केर कलेसा।

(उत्तर० ७९)

जिमि बिनु थल जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई।
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि भगति बिहाई।

(उत्तर० ११९)

कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा।
फूलहिं तरु बरु बहु बिधि फूला। जीवन न लह सुख हरि प्रतिकूला।
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना।
अंधकार बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै।
हिम तें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई।

बारि मथे बरु होइ घृत सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

(उत्तर० १२२)

१२—इसलिए मानव जीवन प्राप्त करने सार्थकता गोस्वामी जी केवल भक्ति-साधन में मानते हैं:

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। स्रवनरंध्र अहिभवन समाना।
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख सम लेखा।
ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुरु पदमूला।
जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी।
जो नहिं करइ रामगुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना।
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरि चरित न जो हरषाती।

(बाल० ११३)

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषय रत मंद मदतर।
काँच किरिच बदले ते लेहीं। करते डारि परसमनि देहीं।

(उत्तर० १२१)

१३—किंतु वह भव क्लेशहारिणी रामभक्ति बिना रामकृपा के नहीं प्राप्त होती :

निज अनुभव में कहौं खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।
रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई।
जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीत होइ नहिं प्रीती।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जल कै चिकनाई।

(उत्तर० ८९)

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई।

(उत्तर० १२०)

सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। राम कृपा काहूँ एक पाई।

(उत्तर० १२७)

१४—किंतु इसके लिए केवल इतना आवश्यक है कि सरल मन से राम का भजन किया जावे :

मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।

(बाल० २००)

१५ इस भक्ति का अर्थ है सर्वस्वभाव से प्रेम :

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवनु सुहृद परिवारा।
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी।
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं।
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय बसइ धनु जैसें।

(सुंदर० ४८)

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननि हारा।

(अयोध्या० १३७)

उमा जोग जप दान तप नाना मख व्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम ॥

(लंका० ११७)

१६—इस राम-प्रेम का प्रादुर्भाव सब से अधिक राम कथा-श्रवण से होता है :

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत स्रवन छूटहिं भव पासा।
प्रनत कल्पतरु करुना पुंजा। उपजै प्रीति राम पद कंजा।
मुनि दुरलभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥
(उत्तर० १२६)

राम उपासक जे जगमाहीं। येहि सम प्रिय तिन्हकें कछु नाहीं।
(उत्तर० १३०)

सुनहु राम अब कहौं निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता।
जिन्हके स्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरंतर होहिं न रूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।
(अयोध्या० १२८)

दूसरि रति-मम कथा प्रसंगा। (अरण्य० ३५)

रामकथा इसलिए रामभक्ति और रामप्रेम की पराकाष्ठा है :

रघुपति भगति प्रेम परमिति सी। (बाल० ३१)

राम के चरित्र सीता-राम प्रेम के जनक-जननी हैं :

जनक जननि सिय राम प्रेम के। (बाल० ३२)

१७—यह रामकथा संत समाज में ही प्राप्त होती है, इसलिए रामभक्ति का सब से आवश्यक साधन संतसंग है :

तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सत संगा।
सुनिअ तहाँ हरिकथा सुहाई। नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई।
जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।
नित हरिकथा होत जहँ भाई। पठवौं तहाँ सुनहु तुम्ह भाई।
जाइहि सुनत सकल संदेहा। रामचरन होइहि अति नेहा।

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
(उत्तर० ६१)

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होहिं अनुकूला।
(अरण्य० १६)

सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई।
ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहि॥
(उत्तर० १२०)

भगति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सत संगति संसृति कर अंता।
(उत्तर० ४५)

फलतः रामभक्त संत और राम को समान समझता है :

जानेसु संत अनंत समाना। (उत्तर० १०६)

बल्कि वह उसे राम से भी कुछ अधिक ही समझता है :

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा।
(उत्तर० १२०)

फलतः संतसंग भक्ति का एक सर्वप्रमुख रूप है :

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। (अरण्य० ३५)

'राम चरित मानस' का प्रारंभ करते हुए गोस्वामी जी ने मंगलाचरण और गुरु-वंदना के अनंतर सब से प्रथम संत-वंदना की है (बाल० २—७)। इसके अंतर्गत जो उन्होंने खलों या असंतों की वंदना की है, वह भी वस्तुतः उनकी संत-वंदना का एक अंग मात्र है। यह वंदना फलतः पूर्ण रूप से सहेतु है

इस वंदना की प्रारंभिक पंक्ति है :

बंदौं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना।

इसमें आए हुए 'महीसुर' शब्द से आशय साधारणतः 'ब्राह्मण' लिया गया है, किंतु यहाँ आशय 'संत' से है, जैसा बाद वाली पंक्ति से प्रकट है :

सुजन समाज सकल गुन खानी। करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी।

अन्यत्र भी इसी प्रकार 'मुनि तापस' के समानार्थी के रूप में 'विप्र' और 'भूसुर' आया है :

अब जहँ राउर आयेसु होई। मुनि उदबेग न पावइ कोई।
मुनि तापस जिन्ह तें दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं।
मंगल मूल बिप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू।
(अयोध्या० १२६)

१८—संत और रामभक्त का सब से बड़ा लक्षण है परोपकार; वे मित्र हो या शत्रु, सभी का निष्प्रयोजन और निरंतर कल्याण करने में निरत रहते हैं :

उमा संत कर इहइ बड़ाई। मंद करत जो करहिं भलाई।
(सुंदर० ४१)

संत असंतन्ह कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी।
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देह सुगंधि बसाई।
(उत्तर० ३७)

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया।
संत सहहिं दुख पर हित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी।
भूर्जतरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला।
सन इव खल पर बंधन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई।
(उत्तर० १२१)

संत हृदय नवनीत समाना । कहा कबिन्ह परि कहै न जाना ।
निज परिताप द्रवै नवनीता । पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ।
(उत्तर० १२५)

रामभक्त परहित निरत पर दुख दुखी दयाल ।
(अयोध्या० २१६)

स्वतः राम ने हनुमान से कहा है कि उनका अनन्य भक्त वह है जो चराचर विश्व में उनका स्वरूप देखता हुआ उसकी सेवा में लगा रहता है :

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥
(किष्किंधा० ४)

संतों और रामभक्तों के जो लक्षण गोस्वामी जी ने बताए हैं, उनसे उनकी रामभक्ति का स्वरूप अत्यंत स्पष्ट हो जाता है । उनकी रामभक्ति कोई लोकबाह्य साधना नहीं है; वह परोपकार, लोक-कल्याण और सचराचर विश्व सेवा में रूप के प्रस्फुटित होती है । गोस्वामी जी की रामभक्ति कोरी भावुकता नहीं है, उसका विकास लोक-जीवन में दिखाई पड़ता है । यही कारण है कि तुलसीदास के जितने भी राम-भक्त हैं—और भरत उनमें सबसे अग्रगण्य हैं—वे नैतिक दृष्टि से प्रायः उच्चतम धरातल पर हैं :

१६— रामभक्ति का दूसरा सबसे बड़ा साधन नाम-स्मरण है । राम-भक्ति के साथ राम नाम के दो अक्षरों का संबंध प्रायः उसी प्रकार अनि-वार्य है जिस प्रकार वर्षा ऋतु के साथ सावन-भादों के महीनों का है :

वर्षा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास ।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादौं मास ॥
(बाल० १६)

२०—रामभक्त चार प्रकार के माने गए हैं: आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। उन चारों के लिए राम नाम साधना का आधार है:

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।
चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहिं बिसेष पियारा।...
सकल कामना हीन जे राम भगति रसलीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहु किए मन मीन॥
(बाल० २२)

२१—'राम चरित मानस' की भूमिका में संत-वंदना के अतिरिक्त जो सबसे बलशाली वंदना है, वह राम नाम की है। तुलसीदास ने उनमें अनेक दृष्टिकोणों से राम नाम की महत्ता प्रतिपादित की है। उनकी तर्क-प्रणाली वहाँ इस प्रकार है:

नाम और रूप—ईश्वर की दो उपाधियाँ हैं। उनमें से रूप ही नाम के आधीन है:

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी।
को बड़ छोट कहत अपराधू। सुन गुन भेद समुझिहहिं साधू।
देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना।
रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचाने।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें।
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी।
(बाल० २१)

निर्गुण और सगुण—ब्रह्म के दो रूप हैं। राम नाम इन दोनों से भी बड़ा है—और गोस्वामी जी कहते हैं कि उनका यह कथन प्रौढ़ोक्ति न समझा जावे, वरन् यह उनके मन की प्रतीति, प्रीति और रुचि मानी जावे:

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरुपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।

मोरें मत बड़ नाम दुहूँतें। किए जेहि जुग निज बस निज बूते।
प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की।
एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहउँ नाम बड़ ब्रह्म रामतें।
(बाल० २३)

निर्गुण ब्रह्म से वह इसलिए बड़ा है कि नाम का आश्रय लिए बिना वह ब्रह्म सगुण होकर लोक-कल्याण नहीं करता है:—

ब्यापकु एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी।
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।
(बाल० २३)

इतना ही नहीं, नाम सगुण या अवतारी ब्रह्म से भी बड़ा है; क्योंकि जो कार्य सगुण ब्रह्म ने अवतार धारण करके और अनेक साधनों का आश्रय लेकर किया है, वह कार्य नाम बिना प्रयास नित्य ही किया करता है। राम ने अवतार धारण करके यही तो किया कि उन्होंने अपने भक्तों का उद्धार किया और उनको उनके संकटों से मुक्त किया। नाम का तो यह प्रतिक्षण का कार्य है :

राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी।
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा।
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी।
रिषि हित राम सुकेतु सुता की। सहित सेन सुत कीन्ह बिबाकी।
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा।
भंजेउ आपु राम भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू।
दंडक बन प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन।
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नाम सकल कलि कलुष निकंदन।

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुनगाथ॥

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ।
नाम गरीब अनेक निवाजे। लोक बेद बर बिरिद बिराजे।
राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु स्रम कीन्ह न थोरा।
नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं।
राम सकुल रन रावन मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा।
राजा रामु अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी।
सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु स्रम प्रबल मोह दल जीती।
फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने।

(बाल० २९—३०)

ऊपर से देखने पर सचमुच यह कथन प्रौढ़ोक्ति प्रतीत होंगे; किंतु गोस्वामी जी ने पहले ही से इस विषय में सावधान कर दिया है, इसलिए हमें इन कथनों को उनकी भावनाओं का यथातथ्य रूप ही मानना पड़ेगा। गोस्वामी जी का विश्वास राम की अवतारी लीला में कदाचित् उतना ही था, जितना कि उनकी नित्य की आध्यात्मिक लीला में :

राम कथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥

(बाल० ३१)

यह बात दूसरी है कि राम की अवतारी लीला के विभिन्न विस्तारों की तुलना में उनकी आध्यात्मिक लीला के जो विस्तार गोस्वामी जी ने दिए हैं, उनको मान कर 'राम चरित मानस' की पूरी कथा का कोई आध्यात्मिक अर्थ भी सर्वत्र संगत रूप से निकाला जा सकता है—कदाचित् नहीं; किंतु गोस्वामी जी ने 'विनय पत्रिका' के एक स्तोत्र में भी (पद ५८) अपने हृदय को उनकी लीला-स्थली बताते हुए लग-

भग इसी प्रकार की आध्यात्मिक लीला करने का राम से आग्रह किया है।

२२—भगवान के अनेक नामों में से गोस्वामी जी को अधिक इष्ट राम नाम था, और इसीलिए उन्होंने राम से इस विषय की याचना नारद-द्वारा कराई है :

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका।
राम सकल नामन्ह तें अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका।

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम॥

(अरण्य० ४२)

राम नाम-विषयक गोस्वामी जी का यह आग्रह सहेतुक है। भगवान के जितने भी अवतारों की कथाएँ भारतीय भक्तों में प्रचलित रही हैं, उनमें से किसी में भी भारतीय संस्कृति और मानवता के उज्जवलतम तत्व उतनी मात्रा में नहीं दिखाई पड़ते हैं जितनी मात्रा में वे राम-कथा में दिखाई पड़ते हैं। गोस्वामी जी ने जिस प्रकार का परिष्कार और सुधार पूर्ववर्ती रामकथाओं के पात्रों के चरित्रों में किया है, उससे उनका इन तत्वों के विषय में आग्रह प्रकट है। फलतः रामवातार के विषय में उनकी श्रद्धा यदि औरों की अपेक्षा अधिक रही हो, तो यह स्वाभाविक ही है। राम नाम उसी दिव्य चरित्र का प्रतीक है, जिसके साथ गोस्वामी जी का ऐसा अगाध स्नेह है। साधना-क्षेत्र में किसी विशेष नाम का कोई विशेष महत्व भले ही न हो, किंतु लोकपक्ष में यह एक महत्वपूर्ण विषय है। किसी नाम के साथ वस्तुतः उसके नामी का पूरा चरित्र लगा हुआ होता है। तुलसी का राम नाम अपने नामी के दिव्य चरित्र का प्रतीक होने के कारण निस्संदेह सबसे अधिक अभिनंदनीय है।

२३—शिवभक्ति रामभक्ति की एक स्वतंत्र भूमिका है। राम स्वतः कहते हैं कि रामभक्ति और शिवभक्ति अन्योन्याश्रित हैं—दूसरे के द्रोह के साथ एक की साधना नहीं हो सकती :

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥
(लंका० २)

रामेश्वर की मूर्ति के विषय में वे कहते हैं कि उसके दर्शन और अभिषेक से सालोक्य और सायुज्य मुक्तियाँ, और उसकी निश्छल और निष्काम सेवा से रामभक्ति प्राप्ति होगी :

जे रामेश्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहिं।
जे गंगाजल आनि चढ़ाइहिं। सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि।
होइ अकाम जो छलु तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि।
(लंका० ३)

अपनी भक्ति की प्राप्ति के लिए तो वे शिवभक्ति को नितांत अनिवार्य बताते हैं :

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न भावा।
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी।
(लंका० २)

अपने अंतिम संदेश में अपनी प्रजा से कितने आग्रहपूर्वक वे यही बात कहते हैं!

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहौं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥
(उत्तर० ४५)

मानस की वंदनाओं में शिव की बंदना करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है :

सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के।
(बाल० १५)

शिव की स्तुति भी उन्होंने प्रायः उन्हीं शब्दों में की है, जिन शब्दों में उन्होंने राम की स्तुतियाँ की हैं :

नमामीशमीशान निर्वाण रूपं। विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपं।
अजं निर्गुणं निर्विल्पं निरीहं। चिदाकाशमाकाश वासं भजेऽहं।
निराकारमोंकार मूलं तुरीयं। गिरा ज्ञान गोतीतमीशं गिरीशं।
करालं महाकाल कालं कृपालं। गुणागार संसार पारं नतोऽहं।
(उत्तर० १०८)

२४—अन्यत्र भी वे शिव को विष्णु के साथ रखते हैं :

संत संभु श्रीपति अपवादा। सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा।
काटिअ तासु जीभ जु बसाई। सुवन मूँदि न त चलिअ पराई।
(बाल० ६४)

विष्णु और शिव का इस प्रकार का सहयोग उन्हें अभीष्ट था, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, क्योंकि दक्ष-यज्ञ की जो कथाएँ अन्यत्र मिलती हैं—उदाहरणार्थ 'श्रीमद्भागवत' (४.७) में—उनमें दक्ष के निमंत्रण पर उनके यज्ञ में ब्रह्मा और विष्णु भी जाते हैं, किंतु 'राम चरित मानस' में त्रिदेव में से कोई नहीं जाता है :

बिष्नु बिरंचि महेस बिहाई। चले सकल सुर जान बनाई।
(बाल० ६१)

यदि 'मानस' में भी विष्णु और ब्रह्मा गए होते, तो उन्हें यहाँ भी दक्ष-यज्ञ में शिव का प्रत्यक्ष अपमान देखना पड़ता, जैसा अन्यत्र हुआ है। गोस्वामी जी ने संभवतः जान-बूझ कर यह विषम परिस्थिति नहीं आने दी है।

प्रश्न यह है कि गोस्वामी जी ने यह सब क्यों किया है? क्या केवल इसलिए कि वैष्णवों और शैवों में प्रायः जो झगड़ा रहा करता था,

उसको मिटाने के लिए, जैसा पंडितों का मत है, या इसका कोई और कारण है।

यदि इतनी ही बात होती, तो वे कदाचित् शिवचरित को अपने रामचरित ग्रंथ के पूर्व रख कर उसे उसका एक अनिवार्य अंग इस प्रकार को न बनाते। 'मानस' में मुख्य रामकथा के पूर्व और कई प्रसंग हैं—जिनमें से प्रमुख नारद मोह, मनु-सतरूपा तपस्या, प्रतापभानु के अभिशाप के प्रसंग हैं; किंतु इन सब का संबंध रामावतार या रावणावतार के कारणों से है। केवल शिवचरित ऐसा है जिसका कोई संबंध मुख्य रामकथा अथवा रामावतार के कारणों से नहीं है। फिर भी वह चरित उन सब की अपेक्षा विस्तृत (बाल० ४७—१०४) है—वह 'मानस' के दो कांडों—अरण्य और किष्किंधा—से बड़ा और एक तीसरे कांड—सुंदर के बराबर है।

कहा जा सकता है कि 'मानस' का कागभुशुंडि-गरुड़ संवाद भी रामकथा का कोई अनिवार्य अंग नहीं है, और वह भी आकार में इतना ही है। किंतु उक्त संवाद का दृष्टकोण भिन्न है : उसका आश्रय लेकर कवि ने उन अनेक पारमार्थिक तत्वों का निरूपण किया है जिनको यदि उसने उतनी ही पूर्णता के साथ 'अध्यात्म रामायण' की भाँति किसी न किसी ढंग से कथा-विधान में स्थान देने का यत्न किया होता तो कथा के कलात्मक प्रभाव को गहरी क्षति पहुँचती। कदाचित् समझ-बूझ कर उसने उक्त संवाद के ढाँचे में अनेक विषयों पर अपने विचार ग्रंथ के परिशिष्ट के रूप में रक्खे हैं। शिवचरित को परिस्थिति इससे भिन्न है।

शिवचरित को रामचरित की भूमिका के रूप में रखने का अभिप्राय स्वतः कवि ने उस चरित के अंत में स्पष्ट कर दिया है :

प्रथमहि मैं कहि सिवचरित बूझा मरम तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त बिकार॥
(बाल० १०४)

शिवप्रेम रामप्रेम की परीक्षा है : जिसके मन में शिवकथा पर अनुराग नहीं, उसे राम कथा में भी वास्तविक आनंद नहीं आ सकता :

अहो धन्य तव जन्म मुनीसा। तुम्हहि प्रान सम प्रिय गौरीसा।
सिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहु न सुहाहीं।
बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू।
(बाल० १०४)

यह सब केवल इस कारण है कि शिव राम के एक महान भक्त हैं : उन्होंने भक्त का एक ऊँचा आदर्श प्रस्तुत किया है : उन्होंने केवल इसलिए सती जैसी पुण्यात्मा नारी का परित्याग कर दिया था कि उसने सीता का रूप धारण कर लिया था—उन सीता का जो उनकी आराध्या हैं :

सिव सम को रघुपति ब्रत धारी। बिनु अघ तजी सती जसि नारी।
पनु करि रघुपति भगति दृढ़ाई। को सिव सम रामहि प्रिय भाई॥
(बाल० १०४)

उनका जो शेष चरित्र 'मानस' में चित्रित हुआ है; वह भी पूर्ण रूप से राम भक्त के अनुरूप है। वस्तुतः रामकथा में भरत का जो राज्य-त्याग है, गोस्वामी जी ने उसी स्तर पर शिव के इस सती-त्याग को भी रक्खा है, और यही कारण है कि जैसे भरतचरित को समाप्त करते हुए उन्होंने कहा है :

भरत चरित करि नेम तुलसी ने सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेम अवसि होइ भव रस बिरति॥
(अयोध्या० ३२६)

ठीक उसी प्रकार उन्होंने राम के द्वारा ऊपर का कथन कहलाया है।

रामभक्ति के कुछ और साधनों के भी उल्लेख जहाँ-तहाँ गोस्वामी जी ने किए हैं किंतु वे गौण हैं। प्रमुख ये ही हैं।

१४—साधना

तुलसीदास न केवल एक महान कवि और विचारक थे, वे एक महान साधक भी थे। उनकी साधना का इतिहास भी सुरक्षित है; वह हमें 'विनय पत्रिका' के गीतों में मिलता है। इन गीतों में उन्होंने बड़ी तन्मयता और आत्मविस्मृति के साथ अपने विस्तृत आध्यात्मिक जीवन के अधिकांश के उद्‌गारों को शब्दों में उतारने का यत्न किया है। यहाँ उक्त गीतों में से कतिपय सुंदरतम उदाहरणों को उद्‌धृत करते हुए उन की साधना का परिचय यथासंभव उन्हीं के शब्दों में देने का यत्न किया जाएगा।

१—तुलसीदास की आध्यात्मिक साधना का प्रारंभ इस अनुभव से होता है कि साधारण दृष्टि से देखने पर जिस संसार को हम रमणीय समझते हैं, परिणाम में वह बड़ा ही भयंकर है :

अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी ॥ १२१ ॥

जिसे हम सुखप्रद समझते हैं, विचार करने पर वही निस्सार निकलता है—तृषार्त होकर हम जल की खोज में निकलते हैं किंतु हमें मिलती है मृग-मरीचिका मात्र। इसी से हम और भी दुखित होते हैं—

मैं तोहिं अब जान्यो संसार।

बाँधि न सकहि मोहिं हरि के बल प्रगट कपट आगार ॥
देखत ही कमनीय कछू नाहिंन पुनि किए बिचार।
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार ॥
तेरे लिए जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार।
महा मोह मृग जल सरिता महँ बोरयो हौं बारहिं बार ॥

निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो ।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो ॥ ८८ ॥

५—यह कहना तो सरल है कि मन को शुद्ध कर लेने से ही सारा काम बन जाएगा, किंतु इस को व्यवहार में लाना दुस्साध्य है, क्योंकि मन हमारे कहने में नहीं आता । यदि वह हमारा कहना ही मानता, तो हम यह दुर्गति क्यों भोगते ? उसको तो हम रात-दिन अनेक शिक्षाएँ देते हैं, फिर भी वह अपना मलिन स्वभाव नहीं छोड़ता है—

मेरो मन हरि हठ न तजै ।
निसि दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाव निजै ॥
ज्यों युवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै ।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै ॥
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै ।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै ॥
हौं हारयो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै ।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥ ८९ ॥

विचित्र हैं इसके आचरण भी : कभी तो यह दीन बना रहता है, और कभी अभिमानी राजा बन बैठता है; कभी तो निरा मूर्ख बना रहता है, और कभी धर्मात्मा पंडित होने का स्वाँग करता है । इसका कोई भी स्थिर रूप नहीं है : अपने स्वार्थों के अनुसार यह निरंतर अपना रूप बदलता रहता है—

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई ।
सुनहु नाथ मन जरत त्रिबिध ज्वर करत फिरत बौराई ॥
कबहुँ जोगरत भोग निरत सठ हठ बियोग बस होई ।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई ॥
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर कबहुँ भूप अभिमानी ।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंब रत कबहुँ धरम रत ज्ञानी ॥

कबहुँ देख जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारि मय भासै।
संसृति सन्निपात दारुन दुख बिनु हरिकृपा न नासै॥
संजम जप तप नेम धरम ब्रत बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास भव रोग रामपद प्रेम हीन नहिं जाई॥ ८१॥

६—जिन इंद्रियों के साधन से हमारा मन अनेक दुष्कर्मों में अब तक लिप्त रहा, उन्हीं से यदि वह चाहता तो कितने ही अनुष्ठान कर सकता था। किंतु वह सब उसने कुछ नहीं किया—

यों मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यो।
ज्यों छल छाँड़ि सुभाव निरंतर रहत बिषय अनुराग्यो॥
ज्यों चितई परनारि सुने पातक प्रपंच घर घर के।
त्यों न साधु सुरसरि तरंग निर्मल गुनगन रघुबर के॥
ज्यों नासा सुगंध रस बस रसना षट रस रति मानी।
रामप्रसाद माल जूठन लगि त्यों न ललकि ललचानी॥
चंदन चंद्रबदनि भूषन पट ज्यों चह पामर परस्यो।
त्यों रघुपति पद पदुम परस को तनु पातकी न तरस्यो॥
ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेए बपु बचन हिए हूँ।
त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किए हूँ॥
चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार द्वार जग बागे।
रामसीय आस्रमनि चलत त्यों भए न स्रमित अभागे॥ १७०॥

७—माया, मोह, अथवा भ्रम का संयोग इस जीव के साथ केवल ईश्वर की प्रेरणा से हुआ है। इसीलिए उस माया का नाश भी ईश्वर की कृपा से ही संभव है—

हैं श्रुति बिदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास यहि जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै॥ १०२॥
सब प्रकार मैं कठिन मृदुल हरि दृढ़ बिचार जिय मोरे।
तुलसिदास यह मोह सृंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे॥ ११४॥

हे हरि कस न रहहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥ १२० ॥
अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु दास हित मोह न छूटै माया ॥१२३ ॥

संक्षेप में, तुलसीदास का यह दृढ़ विश्वास है कि हरि-कृपा के बिना हमारे भ्रम का नाश ज्ञान और भक्ति आदि समस्त साधनों से भी असंभव है—

माधव असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया ॥
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव बिपति सतावै ॥
ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै।
तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसि बासर धावै ॥
जेहि के भवन बिमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै।
सपने परबस परयो जानि देखत केहि जागि निहोरै ॥
ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूँठ कछु नाहीं।
तुलसीदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं ॥११६॥

८—केवल एक साधन शेष है: वह है राम के चरणों में अनुरक्ति। बिना इस अलौकिक जल के हमारे जन्मों का मल दूर नहीं हो सकता—

मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई ॥
नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन बिषय सँग लागे।
हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे ॥
पर निंदा सुनि स्रवन मलिन भए बचन दोष पर गाए।
सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराए ॥

तुलसिदास ब्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै ।
राम चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै ॥८२॥

६—अन्य साधन-पथों की अपेक्षा भक्ति का पथ बहुत सीधा है। निरे ज्ञान से यदि हम आत्म-परिचय चाहते हैं तो बड़ा समय लगेगा—

रघुपति भगति बारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै ।
तुलसिदास कह चिदविलास जग बूझत बूझत बूझै ॥१२४॥

यदि हम बिना योग, यज्ञ, व्रत आदि के संसार से मुक्त होना चाहते हैं, तो बस यही करना है कि दिन-रात राम के चरणों का चिंतन करते रहें—

जो बिनु जोग जज्ञ ब्रत संजम गयो चहत भव पारहि ।
तौ जनि तुलसिदास निसि बासर हरि पद कमल बिसारहि ॥८५॥

तुलसीदास को तो इसके अतिरिक्त कोई दूसरा भरोसा है, दूसरे लोग चाहे जो करें। तुलसीदास का कहना है कि उन कर्मों का फल जब उन्हें मिल जाएगा, तभी वे उनके कथन की सत्यता पर विश्वास करेंगे। उनके गुरु ने तो अनेक मतों को सुन कर, अनेक पंथों और पुराणों का अध्ययन करने के अनंतर, और सभी झगड़ों का निर्णय करके उन को राम की भक्ति का उपदेश किया। वही उन्हें राजमार्ग सा लगता है :

नाहिंन आवत आन भरोसो ।
यहि कलिकाल सकल साधन तरु है स्रम फलनि फरो सो ॥
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो ।
पाएहि पै जानिबो करम फल भरि भरि बेद परो सो ॥
आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो ।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग बियोग धरो सो ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो ।
बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ॥

राम राम रमु राम राम रटु राम राम जपु जीहा।
राम नाम नवनेह मेह को मन हठ होहि पपीहा ॥
सब साधन फल कूप सरित सर सागर सलिल निरासा।
राम नाम रति स्वाति सुधा सुभ सीकर प्रेम पियासा ॥
गरजि तरजि पाषान बरसि पबि प्रीति परखि जिय जानै।
अधिक अधिक अनुराग उमँग उर पर परमिति पहिचानै ॥
राम नाम गति राम नाम मति राम नाम अनुरागी।
ह्वै गए हैं जे होहिंगे आगे तेइ गनियत बड़ भागी ॥
एक अंग मग अगम गवन करि बिलमु न छिन छिन छाहें।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहें ॥६५॥

१६—नाम-स्मरण के अतिरिक्त उस आध्यात्मिक क्षुधातृप्ति का एक अन्य सहयोगी मार्ग भी है—वह है स्वामी से यह याचना करना कि हमें और कुछ भी नहीं चाहिए, हम केवल उनकी भक्ति के भूखे हैं। यह भूख भी कुछ इसी जन्म की नहीं है, न जाने कितने जन्मों की है। कई जन्मों के अनंतर तो साधन-धाम यह मानव देह प्राप्त हुआ। यदि इस देह से भी यह आध्यात्मिक क्षुधा न मिट सकी, तो आगे न जाने कितने जन्मों तक भूखा ही रह जाना पड़ेगा। कैसी हृदय-द्रावक प्रार्थना है!

द्वार हौं भोर ही को आज।
रटत रिरिहा आरि और न कौर ही तें काज ॥
कलि कराल दुकाल दारुन सब कुभाँति कुसाज।
नीच जन मन ऊँच जैसी कोढ़ में की खाज ॥
हहरि हिय मैं सदय बूझ्यो जाइ साधु समाज।
मोहुँ सो कोउ कतहुँ कहुँ तिन्ह कह्यो कोसलराज ॥
दीनता दारिद दलै को कृपा बारिधि बाज।
दानि दसरथ राय के बानइत सिरताज ॥

जनम को भूखो भिखारी हौं गरीब नेवाज।
पेट भर तुलसिहि जेंवाइय भगति सुधा सुनाज ॥ २१६ ॥

भगवन्, आप ही बताइए दूसरा दीनबंधु मुझे कहाँ मिलेगा, मैं तो जिसी के विषय में अपना ध्यान दौड़ाता हूँ, वही मुझे अयोग्य या अकृपालु दिखाई पड़ता है। मैंने माना कि मैं अपने मुख से आपका सेवक बनता हुआ भी लालची और कामी हूँ, किंतु कुछ अधिक तो आप से माँगता भी नहीं। मेरी याचना तो बस इतने ही के लिए है कि मुझे आप अपने द्वार पर पड़ा रहने दें, और अपने गुणों का कीर्तन करते रहने दें—

दीनबंधु दूसरो कहँ पावों।
को तुम बिन पर पीर पाइहै केहि दीनता सुनावों॥
प्रभु अकृपालु कृपालु अलायक जहँ जहँ चितहिं डोलावों।
इहै समुझि सुनि रहौं मौन ह्वै कहि भ्रम कहा गवावों॥
गोपद बूड़िबे जोग करम करौं बातन जलधि थहावों।
अति लालची काम किंकर मन मुख रावरो कहावों॥
तुलसी प्रभु जिय की जानत सब अपनो कछुक जनावों।
सो कीजै जेहि भाँति छाँड़ि छल द्वार परो गुन गावों॥ २२२ ॥

भगवन्, यदि आप यह समझते हों कि यह अन्यत्र कहीं नहीं गया और सीधा मेरे ही पास आ रहा है, तो आपका यह अनुमान ठीक नहीं है। मैंने तो कोई भी ऐसा दरवाज़ा न होगा जिस को न खटखटाया हो; ऐसा एक भी व्यक्ति न मिलेगा जिसके आगे शीश न झुकाया हो, और अपना क्षुधार्त पेट न 'खलाया' हो। चारों ओर सिर मार कर ही अंत में आप की शरण में आया हूँ। बड़ी दूर से आप का यश सुन कर सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। तुलसीदास को आश्वासन दीजिए—

कहा न कियो कहाँ न गयो सीस काहि न नायो।
राम रावरे बिन भए जन जनमि जनमि जग दुख दसहूँ दिसि पायो॥

आस बिवस खास दास ह्वै नीच प्रभुनि जनायो।
हाहा करि दीनता कही द्वार द्वार बार बार परी न छार मुँह बायो ॥
असन बसन बिन बावरो जहँ तहँ उठि धाया।
महिमा मान प्रिय प्रान ते तजि खोलि खलनि आगे खिनु खिनु पेट खलायो ॥
नाथ हाथ कुछ नहिं लग्यो लालच ललचायो।
साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोहिं लोभ लघु निलज नचायो ॥
स्रवन नयन मन मग लगे सब थलपति तायो।
मूड़ मारि हिय हारि कै हित हेरि हहरि अब चरन सरन तकि आयो ॥
दसरथ के समरथ तुही त्रिभुवन जस गायो।
तुलसी नमत अवलोकिए बॉल बाँह बोल दै बिरदावली बुलायो ॥२७६॥

मेरा और कौन है ? किस से कहूँगा ? सब प्रकार की यातनाएँ झेलूँगा, किंतु अपने मन की उच्च आकांक्षाओं को किस को सुना कर सुख लाभ करूँगा ? मुझे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि फलों की तनिक भी इच्छा नहीं है; मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि आप की बाल-क्रीड़ा के लिए खग, मृग, तरु, किंकर होकर आप का प्रीति-पात्र बना रहूँ। इसी नाते मुझे नरक में भी सुख मिलेगा, और इस के बिना स्वर्ग भी मुझे दुखदायी होगा; इस दास के हृदय में इसी की इतनी लालसा है। वह आप की जूती उठा कर कहता है कि या तो आप स्पष्ट वचन दीजिए, अन्यथा अपने हृदय में लिख लीजिए कि तुलसी के इस प्रण का आप निर्वाह करेंगे—

और मोहिं को है काहि कहिहौं।
रंक राज ज्यों मनको मनोरथ केहि सुनाइ सुख लहिहौं ॥
जम जातना जोनि संकट सब सहे दुसह औ सहिहौं।
मोको अगम सुगम तुम्हको प्रभु तउ फल चारि न चहिहौं ॥
खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
यहि नाते नरकहुँ सचु पइहौं या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं ॥

इतनी जिय लालसा दास के कहत पानही गहिहौं।
दीजै बचन कि हृदय आनिए तुलसी को पन निर्बहिहौं ॥ २३१ ॥

१७—रामभक्ति का एक अन्य अनिवार्य अंग संत संग है। किंतु, सतों का संग भी हरि कृपा से ही होता है—

रघुपति भक्ति सुलभ सुखकारी। सो भय ताप सोक त्रय हारी।
बिनु सतसंग भगति नहिं होई। ते तब मिलैं द्रवै जब सोई ॥
जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइए।
जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइए ॥
जिन्हके मिले सुख दुख समान अमानतादिक गुन भए।
मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध तें सहजहिं गए ॥
सेवत साधु द्वैत भय भागै। श्री रघुबीर चरन चित लागै।
देह जनित बिकार सब त्यागै। तब फिर निज स्वरूप अनुरागै ॥१२६॥

१८—साधु-संगति का ही दूसरा पक्ष असाधु से असहयोग है। इसीलिए तुलसीदास अपने एक अत्यंत प्रसिद्ध पद में कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति से सर्वथा असहयोग ही करना होगा जिसे सीताराम प्रिय न हों—वह व्यक्ति चाहे पिता, भाई, माता, गुरु, स्वामी या कोई भी क्यों न हो—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो छाँड़िए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥
तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितनि भए मुद मंगलकारी ॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जो फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूँजी प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो ॥१७४॥

१९—भक्ति-मार्ग के विविध अंगों का एक पद में तुलसीदास ने सुंदर समन्वय इस प्रकार किया है—

चातक तुलसी के मते स्वातिहु पिऐ न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटे घटैगी आनि ॥२७६॥
रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग ॥२८०॥

वह याचना बारह महीने करता है, किंतु ग्रहण केवल स्वाती का जल करता है—वह भी कदाचित् स्नेही मेघ का मन रखने के लिए ही :

जाचै बारह मास पिऐ पपीहा स्वातिजल।
जान्यो तुलसीदास जोगवत नेही मेह मन ॥३०७॥

४—वह एकांगी प्रेम मार्ग का अनुसरण करता है—वह इस बात की अपेक्षा नहीं करता कि उसका प्रिय उसके प्रेम को सफल करे :

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख ॥२८१॥

उसका निष्ठुर प्रियतम चाहे उस पर पत्थर बरसावे, चाहे वज्र गिरावे, अथवा चाहे जो कुछ उसको अपने प्रेम पथ से विरत करने के लिए करे, किंतु वह इन बाधाओं के कारण उलटे अपने व्रत में और भी दृढ़ होता जाता है :

बरसि परुस पाहन पयद पंख करौ टुकटूक।
तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक ॥२८२॥
उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥२८३॥
पवि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि ॥२८४॥

५—अपनी याचना की इस प्रकार की वृत्ति होते हुए भी चातक स्वाभिमान का परित्याग नहीं करता : वह उस मेघ के सामने भी सिर नहीं झुकाता, ऊपर चोंच किए हुए ही उसका जल ग्रहण करता है :

चरग चंगुगत चातकहि नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ परि परिहैं पुहुमी नीर ॥२०१॥

बधिक के लक्ष्य से बिद्ध होकर चातक पुण्य सलिला गंगा के जल में गिरता है, किंतु वहाँ भी अपनी चोंच को ऊपर की ओर उठा कर मरते हुए वह अपने व्रत की रक्षा करता है :

बध्यो बधिक पर्‍यो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहु लगी न खोंच ॥२०२॥

अपने अंडों के छिलके पानी में गिरा हुआ देखकर चतुर चातक उसे भी उस जल में नहीं देख सकता है, और अपने चंगुल से—चोंच से नहीं—उसे भी बाहर कर देता है :

अंड फोरि कियो चेटुवा तुष पर्‍यो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर डार्‍यो बाहर बारि ॥२०३॥

प्राण त्याग करते समय वह अपने बच्चों को इस विषय में सावधान करता हुआ मरता है कि वे उसका तर्पण केवल बारिधर-धारा से करेंगे :

तुलसी चातक देत सिख सुतहि बारही बार।
तात न तर्पन कीजिए बिना बारि धर बारि ॥२०४॥

जीते जी तो उसने दूसरे का जल ग्रहण ही नहीं किया, मरते समय भी उसने अपनी संतानों से अपने शव का स्नान भागीरथी के जल में कराने से रोक दिया :

जिअत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरहि।
सुरसरिहू को बारि मरत न माँगेउ अरध जल ॥२०५॥

३—वह प्रेम केवल उस प्रेम की अतृप्ति के आनंद के लिए करता है। तुलसीदास के अनुसार वह तो स्वाती का भी जल इसलिए नहीं ग्रहण करता है कि उसकी प्रेम-तृषा शांत हो जावेगी :

चातक तुलसी के मते स्वातिहु पिऐ न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटे घटैगी आनि ॥२७९॥
रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग ॥२८०॥

वह याचना बारह महीने करता है, किंतु ग्रहण केवल स्वाती का जल करता है—वह भी कदाचित् स्नेही मेघ का मन रखने के लिए ही:

जाचै बारह मास पिऐ पपीहा स्वातिजल।
जान्यो तुलसीदास जोगवत नेही मेह मन ॥३०७॥

४—वह एकांगी प्रेम मार्ग का अनुसरण करता है—वह इस बात की अपेक्षा नहीं करता कि उसका प्रिय उसके प्रेम को सफल करे:

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख ॥२८१॥

उसका निष्ठुर प्रियतम चाहे उस पर पत्थर बरसावे, चाहे वज्र गिरावे, अथवा चाहे जो कुछ उसको अपने प्रेम पथ से विरत करने के लिए करे, किंतु वह इन बाधाओं के कारण उलटे अपने व्रत में और भी दृढ़ होता जाता है:

बरसि परुष पाहन पयद पंख करौ टुकटूक।
तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक ॥२८२॥
उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥२८३॥
पवि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि ॥२८४॥

५—अपनी याचना की इस प्रकार की वृत्ति होते हुए भी चातक स्वाभिमान का परित्याग नहीं करता: वह उस मेघ के सामने भी सिर नहीं झुकाता, ऊपर चोंच किए हुए ही उसका जल ग्रहण करता है:

मान राखिबो माँगिबो पिय सों नितनव नेहु ।
तुलसी तीनिउ तब फबैं जौ चातक मत लेहु ॥२८५॥
तुलसी चातक ही फबै मान राखिबो प्रेम ।
बक्र बुंद लखि स्वाति हू निदरि निबाहत नेम ॥२८६॥
नहिं जाँचत नहीं संग्रहीं सीस नाइ नहिं लेइ ।
ऐसे मानी जाचकहिं को बारिद बिन देइ ॥२६०॥

६—चातक की याचना अपने लिए होती है, यह समझना भूल होगी। वह तो केवल स्वाती का पानी पीता है, किंतु याचना वह निरंतर करता रहता है :

तुलसी के मत चातकहि केवल प्रेम पिआस ।
पिअत स्वाति जल जान जग जाचक बारह मास ॥ ३०८ ॥

वास्तव में वह याचना अपने लिए नहीं—जगत् के लिए करता है। मेघ संसार का उपकार करता है, इसीलिए वह चातक का प्रेम-पात्र है :

तुलसी चातक माँगनो एक सबै घन दानि ।
देत जो भू भाजन भरत लेत जो घूँटक पानि ॥ २८७ ॥
जीव चराचर जहँ लगे है सब को हित मेह ।
तुलसी चातक मन बस्यो घन सों सहज सनेह ॥ २६४ ॥

चातक कितनी पूर्णता के साथ तुलसीदास की लोक-मंगलमयी भक्ति का प्रतीक है! उसकी और विशेषताओं के लिए कल्पना करने में तुलसीदास के प्रतिस्पर्धी मिल जावेंगे, किंतु कदाचित् इस अंतिम विशेषता के लिए चातक का स्मरण तुलसीदास ने ही किया है।

उपसंहार

ऊपर हमने देखा है कि तुलसीदास का जन्म एक निर्धन कुल में हुआ। माता-पिता से वियोग भी अल्पावस्था में ही हुआ। उदर-पूर्ति के लिए जीवन-संघर्ष का सामना उसी समय से करना पड़ा। किंतु इससे जीवन का विस्तृत अनुभव प्राप्त करने का उन्हें एक अवसर मिला, जो संभव था कि अन्यथा न मिलता।

इसी समय वे राम-भक्तों के संपर्क में आए। अवस्था प्राप्त करने पर कदाचित् उन्होंने विवाह किया, किंतु उनके पूर्वार्जित राम-भक्ति के संस्कार प्रबलतर सिद्ध हुए, और वे घर-बार छोड़ कर अपनी जीवन-साधनाके लिए निकल पड़े। उनकी राम-भक्ति ने एक रचनात्मक रूप धारण किया, और साहित्य को उन्होंने ऐसे रत्न प्रदान किए जिनकी आभा युगों तक क्षीण नहीं हो सकती।

उनके सामने एक विशाल और अत्यंत संपन्न राम-साहित्य था। उसका अवगाहन करके उससे यथेष्ट संतोष नहीं हुआ, और उन्होंने अपने उस अंतःकरण के असंतोष को दूर करने के लिए—स्वांतः सुखाय—उस 'मानस' की रचना की जिसने उन्हें अमर कर दिया।

उनके इस कार्य की विशेषता इसलिए नहीं है कि उन्होंने अपने समय में प्रचलित अनेक शैलियों में सफलतापूर्वक रचनाएँ प्रस्तुत कीं; अथवा उनका प्रकृति-चित्रण, अलंकार- विधान, उक्ति-प्रयोग, और भाषा पर अधिकार अपूर्व था। ये सारी विशेषताएँ तो हिंदी के ही अनेक कवियों के विषय में कुछ कम या अधिक देखी जा सकती हैं। न इसलिए मानी जा सकती है कि पाश्चात्य रहस्यवाद—सूफी धर्म—आदि से प्रभावित अनेक साधना-संप्रदाय जो चल पड़े थे, जिनमें प्राचीन धर्मग्रंथों और वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा के कारण एक सामाजिक अव्यवस्था के बीज सन्निहित थे, उनका निराकरण

उन्होंने लोक धर्म की प्रतिष्ठा की; विभिन्न संत संप्रदायों ने पुस्तकवाद और जन्मजात वैषम्य के सिद्धांत विरुद्ध हृदयवाद और जन्मजात साम्यवाद का प्रचार करके दलित और अपमानित जनता को जो आशावाद का संदेश दिया, उसको विस्मृत कर देना कृतघ्नता की पराकाष्ठा होगी; और न इस में मानी जा सकती है कि उन्होंने शैवों और वैष्णवों के सांप्रदायिक झगड़े को दूर कर दोनों में सद्भाव उत्पन्न कर दिया; और न कदाचित् इसलिए कि उन्होंने किसी नए दर्शन का प्रतिपादन किया। उनकी विशेषता के कारण कदाचित् कुछ और हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि रामचरित भारतीय संस्कृति का उत्कृष्टतम प्रतीक है। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति के तत्वों को पूर्णरूप से आत्मसात् करके इस राम चरित को उसका और भी पूर्ण प्रतीक बनाया है। और उनकी कला इस बात में है कि यह कार्य उन्होंने इतनी स्वाभाविकता के साथ संपन्न किया है कि इस विषय में अपने पूर्ववर्तियों से वे बीस ही हैं—कथा के चरित्रों की मूल प्रवृत्तियों को समझ कर अपने चरित्रों के भवन उन्होंने धुर नींव से तैयार किए हैं, और उन्हें मानवता के उनके अपने ही मूल्यवान गुणों से अधिकाधिक संपन्न कर दिया है।

इतना ही नहीं, उन्होंने राम-भक्ति का जो आदर्श सम्मुख रक्खा है, वह भी उनके व्यक्तित्व की इन विशेषताओं से अनुरंजित हो उठा है। उनके जीवन में, उनकी रचनाओं के आध्यात्मिक आधार में, उनकी साधना में, और उनके प्रेम के आदर्श में—सर्वत्र लोकमंगल की कामना का वह दिव्य आलोक दिखाई पड़ता है जो संपूर्ण सांप्रदायिकता से परे है।

अपने योग की इन्हीं विशेषताओं के कारण तुलसीदास ने हिंदी साहित्य में ही नहीं, संपूर्ण राम-साहित्य में और उसके द्वारा भारतीय साहित्य में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है।